॥ॐ॥
॥श्री परमात्मने नमः ॥
॥श्री गणेशाय नमः॥

श्रीधीश गीता

श्री धीश गीता

श्री प्रभु के चरणकमलों में समर्पित:

श्री मनीष त्यागी
संस्थापक एवं अध्यक्ष
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

॥ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

विषय सूची

अथ प्रथमोऽध्याय : प्रथम अध्याय 4

स्वस्वरूपभावनिरूपणम् 4

अथ द्वितीयोऽध्याय : द्वितीय अध्याय 33

सिद्धिस्वरूप निरूपणम् ।........ 33

अथ तृतियोऽध्याय : तृतीय अध्याय 56

ज्ञानभूमि निरूपणम् 56

अथ चतुर्थोऽध्याय : चतुर्थ अध्याय 81

धर्मविज्ञाननिरूपणम् 81

अथ पंचमोऽध्याय : पांचवां अध्याय 98

वेदान्त निरूपणम् 98

अथ षष्ठोऽध्याय : छठा अध्याय 127

वेदान्तसिद्धान्तनिरुणम् 127

अथ सप्तमोऽध्याय : सातवाँ अध्याय 142

विराट्स्वरूपनिरूपणम्। 142

॥ श्री हरि ॥

॥ श्रीधीशगीता ॥

अथ प्रथमोऽध्याय : प्रथम अध्याय

स्वस्वरूपभावनिरूपणम्

सूत उवाच ॥१॥

सूतजी वोले ॥१॥

गुरो ! वेदान्ततत्त्वज्ञ ! वेदार्थद्योतकान्यहो।
अनेकानि पुराणानि कृपातः श्रावितानि मे ॥२॥

हे वेदान्त के तत्त्व जाननेवाले गुरो ! वेदार्थ प्रतिपादक अनेक पुराण अहो ! आपने कृपापूर्वक मुझे सुनाये हैं ॥२॥

अनेकोपनिषत्साररूपा गीताश्च कीर्तिताः ।
जातोऽस्म्यहं ततो देव ! कृतकृत्यो न संशयः ॥३॥

और उपनिषत्सार रूप अनेक गीताएँ भी कही हैं हे देव ! जिससे मैं निसन्देह कृतकृत्य होगया हूँ ॥३॥

आश्रौपञ्च भवत्तोऽहं पुराख्यानप्रसङ्गतः।

जगत्कर्ता जगद्धाता जगज्जन्मादिकारणम् ॥४॥

जगत्पिता जगद्बन्धुर्भगवान विश्वपालकः ।
परे बुद्धेः स्थितो बुद्धिमधिष्ठाय कृपावशात् ॥५॥

मुक्तिं ददाति जीवेभ्यः शरणागतवत्सलः ।
अतः सम्प्रोच्यते धीश आम्नायैरखिलैरसौ ॥६॥

पूर्व कथाप्रसङ्गमें मैंने आपसे सुना है कि जगजन्मादिकारण जगत्कर्ता जगद्धाता जगद बंधू जगत्पिता जगत्पालक श्रीभगवान् बुद्धि के परे स्थित हैं और वह शरणागतवत्सल कृपावश बुद्धि में अधिष्ठान करके जीवों को मुक्तिप्रदान करते हैं इस कारण उनको सब वेदोंने धीश कहा है॥४-६॥

इत्यप्याकर्णितं नाथ ! भवतो वदनाम्बुजाद ।
यत्पुरा दिव्यमासाद्य धीशलोकं महर्षयः ॥७॥

श्रीमद्गणपतेर्देवाच्छ्रतवन्तो हिताच्छभान् ।
अनेकोपनिषत्सारोपदेशान्मुक्तिदायकान् ॥८॥

हे नाथ ! मैंने आपके मुखकमल से यह भी सुना है कि पुराकाल में महर्षिगण ने दिव्य धीशलोक में उपस्थित होकर श्रीगणपतिदेव से मुक्तिप्रद उपनिषत्सार रूप हित और शुभ अनेक उपदेशों का श्रवण किया था ॥७-८॥

तवासीमकृपाराशिर्मय्यास्ते या तयैव माम् ।

दिव्यां धीशार्षिसम्बादरूपां पुण्यमयीमतः ॥९॥

ज्ञानदा मुक्तिदां श्रव्यां धीशगीतां सुधोपमाम्।
कुरुष्व श्रावयित्वा मां कृतकृत्यं कृपार्णव! ॥१०॥

अतः मेरे ऊपर जो आपकी अपार कृपाराशि है है कृपासागर ! आप उससे ही मुझे धीश और महर्षि सम्वाद रूप ज्ञान और मुक्ति देनेवाली श्रवणीय-अमृतरूप पवित्र दिव्य धीश-गीता को सुनाकर कृतकृत्य कीजिये ॥ ९-१०॥

कस्मान्महर्षिभिर्धीशलोकः प्राप्तः पुरा प्रभो !
क वासो धीशलोकोऽस्ति कथम्बा तत्र गम्यते ॥११॥

कान्यध्यात्मरहस्यानि धीशदेवेन प्रोचिरे ।
श्रावयित्वा च तत्सर्वं व्यासतो मां कृतार्थय ॥१२॥

हे प्रभो ! पुराकाल में, महर्षिगण किस कारण से धीशलोकमें पहुंचे थे और वह धीश लोक कहां पर है, किस प्रकार से वहां जाना होता है और गणपतिदेव ने किन अध्यात्म रहस्यो का वर्णन किया था उन सबको विस्तार पूर्वक सुनाकर मुझे कृतार्थ करें ॥११-१२॥

येन श्रौतरहस्यं तत्मचार्याहं पुनः पुनः ।
मुमुक्षूणां कृते लोके धन्यः स्यां हि स्वयं ध्रुवम् ॥१३॥

जिससे मैं उन वेद रहस्यो को मुमुक्षु व्यक्तियों के लिये जगत में बारम्बार प्रचारित करके निश्चय ही स्वयं धन्य होऊँ ॥१३॥

व्यास उवाच ॥१४॥

व्यासजी बोले ॥ १४ ॥

सूत ! ते धर्मजिज्ञासाप्रवृता जन्मसिद्धया।
भक्तया गुरोश्च सदुद्धया विश्वकल्याणसक्तया ॥१५॥

प्रसन्नोऽस्म्यहमत्यन्तं सौम्यात्ते च स्वभावतः।
यत्वं जिज्ञाससे तात ! यत्त्वं वा शंकसे ह्यतः ॥१६॥

तत्समाधानदानेन नितान्तं मोदमावहे ।
यतो में प्रियशिष्योऽसि मत्कृपापुञ्जभाजनम् ॥१४॥

हे सूत तुम्हारी गुरुभक्ति, जन्मसिद्ध धर्म जिज्ञासा प्रवृत्ति और जगत कल्याण में तत्पर सद्बुद्धि से एवं सौम्य स्वभाव से मैं अति प्रसन्न हूँ इसी कारण हे तात! तुम जो जिज्ञासा करते हो और तुम जो शंका करते हो उसका समाधान करने से मैं अत्यन्त, आनन्दित होता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय शिष्य और अति कृपापात्र हो ॥१५ १७॥

जिज्ञासुप्राणिवृन्देभ्यः शिक्षादानं निरन्तरम्।
मुमुक्षुसाधकेभ्यश्च तत्त्वज्ञानोपदेशनम् ॥१८॥

वेदानां ज्ञानरूपाणां विश्वस्मिंश्च प्रचारणम् ।
तेषां प्रकाशञ्चास्ति जीवनस्य व्रतं मम ॥१९॥

जिज्ञासु प्राणियो को निरन्तर उपदेश प्रदान, मुमुक्षु साधको को तत्त्वज्ञानोपदेश और ज्ञानमय वेदों का जगत में प्रचार एवं उनका प्रकाश करना मेरे जीवन का व्रत है ॥१८-१९॥

सूत ! विश्वेशमाहात्म्यप्रचारः पुण्यवर्द्धनः।
स्वभावाद्रोचते मह्यं तत्रासि त्वं सहायकः ॥२०॥

सानन्दं पूरयिष्येऽतः प्रार्थनायुत्तमामिमाम् ।
समाहितमना बुद्धया युक्तः श्रद्धान्वितः शृणु ॥२१॥

हे सूत! पुण्य वर्द्धक भगवत महिमा प्रचार में मेरी स्वाभाविक रुचि है और जगत में भगवत महिमा प्रचार कार्य में तुम सहायक हो इस कारण मैं आनन्द पूर्वक इस उत्तम प्रार्थना को पूर्ण करूंगा, समाहितमन बुद्धियुक्त और श्रद्धान्वित होकर सुनो। ॥२०-२१॥

ब्रह्माण्डमेतत्सप्ताधः सप्तोर्दध्वश्चैव विद्यते।
चतुर्दशमितेष्वेवं विभक्तं भुवनेत्रहो ॥२२॥

चतुर्दशमितान्येतद्भवनान्येव कोविदाः ।
उद्धर्वलोकानधोलोकान् सप्त सप्त वदन्ति च ॥२३॥

यह ब्रह्माण्ड अहो ! सात ऊपर और सात नीचे इसी प्रकार चतुर्दश भुवनों में विभक्त है इन्हीं चौदह भुवनों को ही पण्डितगण सप्त उर्द्ध्वलोक और सप्त अधोलोक कहते हैं ॥२२-२३॥

स्वाभाविक्यमुरावासभूरधस्ताद् भवेत्तयोः ।
सप्तलोक्यां तथोर्द्ध्वस्था सप्तलोकी च देवभूः ॥२४॥

चतुर्दशमितानाञ्च भुवनानां विराजते ।
मध्यसन्धिस्थितोमृत्युलोको मर्त्यनिवासभूः ॥२५॥

उनमे से सप्त अधोलोक असुरो की स्वाभाविक आवास भूमि है और सप्त उर्द्ध्वलोक देवभूमि है एवं मृत्युलोक चतुर्दश भुवनों की मध्यसन्धि में मे स्थित होकर शोभायमान है जो मनुष्योंकी आवासभूमि है ॥२४-२५॥

असौ सूत ! किल प्राज्ञैभूलोकोऽपि निगद्यते ।
पार्थिवो मृत्युलोकोऽस्य पितृलोकोऽस्ति दैविकः ॥२६॥

हे सूत ! विद्वान जन उसको भूलोक भी कहते हैं इसका पितृलोक दैवीलोक और मृत्युलोक पार्थिवलोक है। ॥२६॥

युद्धे देवासुरे जाते क्याचित्केऽपि कदाचन ।
त्योनिर्वासभूम्योः स्यात् कादाचित्को विपर्यायः ॥२७॥

कभी देवासुर संग्राम होने पर इसका सामयिक रूप से कहीं कहीं विपर्याय भी होता है। ॥२७॥

हे सूताध्यात्मराज्यस्य चालका ऋपयो यतः।
तच्चतुर्दशलोकेषु गतिस्तेषामबाधिता ॥२८॥

हे सूत ! ऋषिगण अध्यात्मराज्य के संचालक हैं इसलिये उनकी गति चतुर्दश भुवन में अवाधित है ॥२८॥

वासस्थानानि तेषान्तु लोकाः सप्तोर्दध्ववर्तिनः।
श्रेण्योऽनेका महर्षीणामूर्द्ध्वलोकेषु सन्त्यतः ॥२९॥

तेषां निवासभूमीनां नाना भेदा निरूपिताः।
अधोलोका यथा सप्तासुरभावप्रधानकाः ॥३०॥

भवन्समुरराजेण विस्तरानियमेन च ।
सर्वदा सर्वथा नूनं नितान्तमनुशासिताः ॥३१॥

तथा नैवोर्दवलोकेषु देवराजानुशासनम् ।
आवश्यकं वर्तते ते यतः सत्त्वप्रधानकाः ॥३२॥

परन्तु उनका निवासस्थल सप्त उद्धर्व लोक है । ऋषियोंकी श्रेणियां अनेक हैं इस कारण उद्धर्वलोकों में उनके वासस्थान के अनेक भेद निरूपित है। जिस प्रकार सप्त अधोलोक सुरभाव प्रधान होने से वह असुर राजके द्वारा सर्वदा नियम से विस्तारपूर्वक सर्वथा अत्यन्त ही अनुशासित हैं उसी प्रकार सप्त उद्धर्व ध्वलोकों में देवराज के अनुशासनको आवश्यकता नहीं है क्योंकि वे देवलोक समूह सत्व प्रधान हैं ॥२९-३२॥

ऋषीणां नितरां तत्र सुलभांप्यस्ति सङ्गतिः ।
यस्मान्न पुनरावृत्तिः सत्यलोकस्त्वसौ सदा ॥३३॥

मुक्तात्मभिस्तपोनिष्ठैर्योगयुञ्ज्ञानमानसैः ।
ब्रह्मसद्भावसंयुक्त ऋषिभिः पूरितोऽस्त्यलम् ॥३४॥

वहां ऋषियोका समागम भी अत्यन्त सुलभ है। अपुनरावृत्ति भावको धारण करनेवाला, सत्यलोक तो सदा मुक्तात्मा ब्रह्मसदभावयुक्त तपोनिष्णात और योगाभ्यास परायण ऋषियों से अत्यन्त पूर्ण है ॥३३-३४॥

सम्भवः पुनरायत्तेः सगुणाखिललोकतः।
सर्वेऽतः सगुणा लोका उर्दध्वस्थानाधिवर्तिन: ॥३५॥

लोकयोः सन्धिमध्यस्थास्तपःसत्याभिधानयोः ।
नात्र त्वं विस्मयं कुर्य्याः सूत ! दर्भागधीषण ! ॥३६॥

सब सगुणलोको से पुनरावृत्ति सम्भव है इस कारण सब सगुण उद्धर्वलोक तप और सत्यलोक की सन्धि में स्थित हैं, हे कुशाग्रबुद्धि सूत ! इसमें तुम विस्मय न करो ॥३५-३६॥

उर्दध्वलोकेषु सर्वेषु निश्चितं निवसन्त्यहो ।
यथाधिकारसँल्लब्धि यथास्थानं महर्षयः ॥३७॥

अहो यथायोग्य अधिकारके ऋषि सब उद्धर्व लोकों में ही यथास्थान निवास करते हैं ॥३७॥

निर्जरा निखिलाः भूत ! लब्ध्वा येषां सुसंङ्गतिम् ।

पारयन्ते स्वधर्मस्य पालनं कर्तुमुत्तमम् ॥३८॥

हे सूत ! जिनके सत्संग को प्राप्त होकर सव देवतागण उत्तम रीति से स्वधर्म के पालन करने में समर्थ होते हैं ॥३८॥

एकदा मिलिता नैके पुराकाले महर्षयः ।
अध्यात्मतत्त्वजिज्ञासा सद्वाञ्छाभिश्च प्रेरिताः ॥३९॥

एकाग्रमानसाः श्रद्धाभक्तिभावसमन्विताः ।
एकतत्त्वयुताः शान्ता धीशलोकमधिश्रिताः ॥४०॥

पुराकाल में एक समय अनेक ऋषि एकत्रित होकर अध्यात्म तत्त्व जिज्ञासा की सद्वासना से प्रेरित और एकाग्र चित्त हो श्रद्धा भक्तिभाव और एकतत्त्व से युक्त एवं शान्त होकर धीश लोक में पहुंचे ॥३९-४०॥

श्रीमद्गणपतिं देवं सज्ज्ञानानन्दविग्रहम् ।
तत्रत्य भगवन्तं तं प्रार्थयामासुरादराव ॥४१॥

उन्होंने यहां पहुंचकर उन सचिदानन्दमय श्रीभगवान् गणपति देव से आदरपूर्वक प्रार्थना की ॥४१॥

ऋषय ऊचुः ॥४२॥

ऋषिगण बोले ॥४२॥

भगवन् ! धीश ! सर्वज्ञ ! जगन्मान्य ! जगद्गुरो !।
कृपातो भवतो वेदान प्राप्तवन्तो वयं पुरा ॥४३॥

तेषामर्यानुसन्धाने कृतकार्या अभूम च।
तवास्माभिः परं नैव ज्ञातं रूपं यथार्थतः ॥४४॥

अतो नेवाभवच्छान्तिरस्माकं चेतसि प्रभो!।
वयं शरणमापन्ना भवल्लोकमुपस्थिताः ॥४५॥

अध नः कृपया देहि स्वरूपज्ञानमात्मनः ।
तत्वज्ञाननिधे सारं ज्ञानं तच्छाक्यामृतम् ॥४६॥

यत्स्याच्चोपनिषद्रूपमस्मन्नी:श्रेयसप्रदम् ।
चिरशान्तिकरं देव ! ब्रह्मानन्दप्रदायकम् ॥४७॥

हे जगन्मान्य ! दे सर्वाज्ञ! हे जगद्गुरो ! हे भगवन् धीश ! हमने पुराकाल में आपकी कृपा से वेदो को प्राप्त करके उनके अर्थानुसन्धान में भी कृतकार्यता प्राप्त की है परन्तु हे प्रभो ! आपका यथार्थ स्वरूप हमें परिज्ञात न होने से ही हमारे चित्त में शान्ति प्राप्त नहीं हुई है। अब हम आपके लोक में उपस्थित होकर आपके शरणागत हुए हैं। कृपया आप अपने स्वरूप का ज्ञान हमें प्रदान कीजिये और तत्वज्ञानो का सार वह अमृतरूपी ज्ञान सुनाइए जो उपनिप रूप होकर हमारे लिये निःश्रेयसप्रद हो और है देव ! जो हमें चिरस्थायी शान्ति और ब्रह्मानन्द प्रदानकारी हो। ॥ ४३-४७॥

गणपतिरुवाच ॥४८॥

श्रीगणपति बोले ॥४८॥

पारङ्गतोऽस्म्यलं विप्रा: ! स्वसप्तज्ञानभूमितः ।
सच्चिदानन्दरूपेण विराजे चाहमव्यय: ॥४९॥

हे विप्रो ! मैं अपनी सप्त ज्ञानभूमियों के ऊपर सचिदानन्द रूप से अविनाशी होकर भलीभांति विराजमान हूँ ॥४९॥

विभुं मामप्यहो भक्ता भावुकाः स्वेच्छया द्विजाः।
नानारूपेषु पश्यन्ति कृतकृत्या भवन्ति च ॥५०॥

हे ब्राह्मणो ! मेरे विभु होनेपर भी अहो ! भावुक भक्तगण अपनी इच्छाके अनुसार अनेकों रूप में मेरा दर्शन पाते हैं और कृतकृत्य होते हैं ॥५०॥

रूपहीनोऽस्म्यहं विप्राः ! श्रद्धावन्तस्तथापि मे ।
भक्ता मां स्थूलरूपे वा ज्योतीरूपे निरीक्ष्य च ॥५१॥

सानन्दाः कृतकृत्याः स्युर्नात्र कार्या विचारणा ।
स्युः प्रपञ्चमयादस्मात् स्थूलाद्वै विषयात्परे ॥५२॥

इन्द्रियौघास्ततः सन्ति तन्मात्राण्याखिलानि च ।
तन्मात्रेभ्यः परे पारे वृत्तयश्च भवन्त्यहो ॥५३॥

ताभ्यः पारं गता भावा भावेभ्योऽपि पर महत् ।

महतोऽपि परं नित्यं कुर्वते दर्शनं मम ॥५४॥

ज्ञानिनो योगनिष्णाता भक्ता मे तत्त्वचिन्तकाः।
एतद्रपं परं ज्ञात्वा चिरं शान्तिमवाप्तुत ॥५५॥

हे विप्रो ! मैं रूपरहित हूं तथापि मेरे श्रद्धावान् भक्तगण मेरा स्थूल रूप अथवा ज्योतीरूप में दर्शन करके आनन्दित और कृतकृत्य होते हैं इसमें विचार की कोई बात नहीं है। इस स्थूलप्रपञ्चमय विषय से परे इन्द्रियां है, इन्द्रियो से परे सभी तन्मात्राएँ हैं, अहो ! तन्मात्राओं से परे वृत्तियां हैं, वृत्तियों से परे भाव है, भाव से भी परे महत् है और महत से परे मेरा दर्शन तत्त्वचिन्तक योगनिष्णात मेरे ज्ञानी भक्त नित्य करते हैं। इस परम रूप को जानकर आप लोग चिरकाल तक शान्ति मान कर ॥५१-५५॥

अहमेवास्मि सद्रूपश्चिद्रूपोऽपि महर्षयः !
अहमानन्दरूपोऽस्मि नृनमत्र न संशयः ॥५६॥

विभुश्च निविकारोऽहं निराकारश्च निर्गुणः ।
द्वान्दातीतश्च निर्लिप्तो ज्ञानरूपोऽप्यदं ध्रुवम् ॥५७॥

हे महर्षियों ! मैं ही सतरूप हूँ, मैं ही चित रूप भी है और मैं ही आनन्दरूप हूँ इसमें सन्देह नहीं हैं । मैं विभु, निर्विकार, निर्गुण निराकार, निर्लिप्त, द्वन्द्वातीत और निश्चय ही ज्ञानस्वरूप हूँ ॥५६-५७॥

स्वरूपावास्थितौ मूल-प्रकृतिमें महर्षयः ।
मल्लीना भावमद्वैतमाविर्भावियतेतराम ॥५८॥

हे महर्षि गण ! मेरी मूल प्रकृति स्वरुप अवस्था में मुझमें ही लीन रहकर अद्वैतभाव को अवश्य उत्पन्न करती है। ॥५८॥

सा व्युत्थानदशायान्तु स्तं रूपं त्रिगुणात्मकम् ।
धृत्वा दृश्य प्रपञ्भस्य सृष्टिस्थितिलयक्रियाः ॥५९॥

कुर्वाणाऽऽस्ते सदा विप्राः ! मदाज्ञायशवर्तिनी।
मत्मक्रित्याश्च भो विप्रा: ! तमस्सत्वरजोगुणाः ॥६०॥

ज्ञायन्ते सचिदानन्दरूपैस्त्रिाभिर्मम ।
नवध्यात्माधिदैवाधिभूतभावैरहो त्रिभिः ॥६१॥

आविर्भयात्मभक्तेभ्यो ज्ञानिभ्यः सत्वरं ध्रुवम ।
अहमेव प्रयच्छामि तत्त्वज्ञान न संशयः ॥६२॥

किन्तु हे विप्रो ! यह व्युत्थान दशा में अपने त्रिगुणात्मक रूप को धारण करके दृश्य प्रपंञ्च की सृष्टि, स्थिति, और लयक्रिया को मेरी आज्ञा के वशवर्तिनी होकर सदा करती रहती है। हे ब्राह्मणों ! मेरी प्रकृतिक सत्व रज तम यह तीनों गुण मेरे सञ्चिदानन्दमय त्रिभावों से जाने जाते हैं। अहो ! मैं ही अध्यात्म अधिदेव और अधिभूत इन तीनों भावों से ही प्रकट होकर अपने ज्ञानी भक्तों को निश्चय ही शीघ्र सत्वज्ञान प्रदान करता हूँ इसमें सन्देह नहीं ॥५९-६२॥

तदा मे ज्ञानिनो भक्ता भावत्रय्याश्रयादध्रुवम् ।
अघट्यघटनायां या प्रकृति, पटीयसी ॥६३॥

तस्यास्त्रैगुण्यमय्या हि कृत्वा तात्त्विकदर्शनम् ।
मामकीनां लभन्तेऽन्ते मुक्ति सायुज्यनामिकाम् ॥६४॥

तब मेरे ज्ञानी भक्त त्रिभाव की सहायता से ही मेरी त्रिगुणमयी प्रकृति का यथार्थ रूप में दर्शन करके अन्त मेरी सायुज्य मुक्ति को प्राप्त होते हैं ॥६३-६४॥

त्रिभावात्मकमेवास्ति तटस्थज्ञानमद्भुतम् ।
मत्स्वरूपावबोधाय सूपायः सर्ववोत्तमः ॥६५॥

मेरे स्वरूप ज्ञान की प्राप्तिके लिये सब प्रकारसे उत्तम त्रिभावात्मक अद्भुत तटस्थ ज्ञान ही श्रेष्ठ उपाय है ॥६५॥

मत्कारणदशायां वै सच्चिदानन्दरूपिणः
त्रिभावा अवतिष्ठन्तेऽद्वैतरूपे न संशयः ॥६६॥

मेरी कारणदशा में सत् चित् और आनन्दरूप तीनों भाव निस्सन्देह अद्वैतरूप में ही रहते हैं ॥६६॥

नन्नध्यात्माधिदैवाधिभूतभावस्त्रिभिध्रुवम् ।
प्रकृतेर्मे प्रजातस्य कार्यब्रह्मण एव हि ॥६७॥

अङ्गोपाङ्गानि सर्वाणि व्याप्नुवन्नु पृथक् पृथक्।
विश्व प्रकाशये सर्वमहं वैचित्र्यसङ्कुलम् ॥६८॥

मेरी ही प्रकृति से उत्पन्न कार्यब्रह्म के सभी अंगो उपांगों में मैं ही अध्यात्म अधिदैव और अधिभूतरूपी तीनों पृथक पृथक् भावों से अवश्य ही व्यापक रहकर नाना वैचित्र्य पूर्ण सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करता हूँ ॥६७-६८॥

स्थानं तन्नास्ति विश्वास्मिन् व्याप्तं यन्न विभावतः।
यदब्रह्मेविराडरूपैः पश्यन्तो ज्ञानिनो हि माम् ॥६९॥

उन्मजन्ति निमजनन्ति भक्ता मे भक्तिसागरे ।
तत्रापि कारणं वित्त नित्यभावत्रयं खलु ॥७०॥

इस जगत में ऐसा स्थान नहीं है जो त्रिभावसे व्याप्त न हो, मेरे ज्ञानी भक्त जो ब्रह्म ईश और विराट रूप में मेरा दर्शन करके ही भक्ति सागरमें उन्मजन और निमजन करते हैं यहां भी नित्य भाव त्रय को ही कारण जानो ॥६९-७०॥

यत्तद्ब्रह्म मनोवाचामगोचरमितीरितम् ।
तत सर्वकारणं वित्त साध्यात्मिकमित्यपि ॥७१॥

जो मन और वाणी के अगोचर कहे गये हैं वह ब्रह्म हैं उनको सबका कारण और सबका अध्यात्म जानो॥७९॥

अनाद्यन्तमनं दिव्यमजरं ध्रुवमव्ययम् ।
अप्रतर्यंमविक्षेयं ब्रह्माग्रे समवर्तते ॥७२॥

अनादि, अनन्त, अजन्मा, दिव्य, अजर, अमर, नाशरहित, अनूह्य और अज्ञेय ब्रह्म प्रथम है ॥७२॥

स्वेच्छया मायया यत्तजगजन्मादिकारणम् ।
ईश्वराख्यं तु तत्तत्वमधिदैवमिति स्मृतम् ॥७३॥

अपनी इच्छारूपिणी माया से जो जगत की सृष्टि स्थिति और लय के कारण हैं ईश्वर हैं। वह ईश्वर तत्त्व अधिदेव कहलाते हैं ॥७३॥

सर्वज्ञः सदगुरुनित्यो ह्यांतर्यामी कृपानिधिः ।
सर्वसद्गुणसारात्मा दोषशन्यः परः पुमान ॥७४॥

सर्वज्ञ, सद्गुरु, नित्य, अन्तर्यामी, कृपासागर, सब सद्गुणों के साररूप, दोषशून्य पुरूषोत्तम है ॥७४॥

यत्कार्यव्रह्म विश्वस्य निधानं प्राकृतात्मकम् ।
विराडाख्यं स्थूलतरमधिभूतं तदुच्यते ॥७५ ॥

और जो विश्व के निधान, प्राकृतात्मक, स्थूलतर और विराटरूप कार्य्यब्रहम हैं, वह अधिभूत कहे जाते हैं। ॥७५॥

पुनर्वः सम्प्रवक्ष्येऽहं श्रूयतां तत्त्वमुत्तमम् ।
नन्वध्यात्माधिदैवाधिभूतभावत्रयानुगम् ॥७६॥

अध्यात्म अधिदैव और अधिभूतरूप भावत्रय सम्बन्धी उत्तम तत्त्व फिर मैं आपलोगों से ही कहता हूँ सुनो ॥७६॥

यथाध्यात्माधिदैवधिभूतभावत्रयं द्विजाः ।
विद्यते कारणे नूनं कार्येष्वपि तथैव तत् ॥७७॥

हे ब्राह्मणो ! अध्यात्म अधिदेव और अधिभूत ये तीनों भाव जिसप्रकार कारण में हैं उसीप्रकार वह कार्य में भी अवश्य हैं ॥७७॥

विस्तरात्सम्प्रवक्ष्येऽहं तत्स्वरूपं निशम्यताम् ।
अहमेव स्वकीयां तां महामायामुपाश्रितः ॥७८॥

विभ्राणोऽध्यात्मभावेन ऋषिरूपं सदोत्तमम् ।
तथाधिदैवभावेन देवतारूपमादधत् ॥७९॥

तथाधिभूतभावेन पितृरूपमधिश्रयन् ।
नानाब्रह्माण्डसंघातं संरक्षामि महार्षयः । ॥८०॥

उनका विस्तार से स्वरूप मैं कहता हूँ सुनो। हे महर्षियों! मैं ही अपनी उन महामाया का आश्रय करके सर्वदा अध्यात्मभाव से ऋषि,

अधिदैव भाव से देवता और अधिभूत भाव से पितृरूप उत्तमता से धारण करके अनेक ब्रह्माण्ड समूह का संरक्षण करता हूँ ॥७८-८०॥

आकाशं प्रथमं भूतं श्रोत्रमध्यात्ममुच्यते !
आधिभूतं तथा शब्दो दिशस्तनाधिदैवतम् ॥८१॥

पञ्च महाभूतों में प्रथम भूत आकाश है, वहां श्रोत्र अध्यात्म, शब्द अधिभूत और दिशाएँ अधिदेव कही गई है ॥८१॥

द्वितीय मारुतं भूतं त्वगध्यात्म च विश्रुतम् ।
स्पष्टव्यमधिभूतञ्च विद्युत्तत्राधिदैवतम् ॥ ८२ ॥

द्वितीय भूत वायु है, यहां वक् अध्यात्म, स्पर्श अधिभूत और विद्युत् अधिदेव कहे गये हैं ॥८२॥

तृतीयं ज्योतिरित्याहुश्चक्षुरध्यात्ममुच्यते ।
अधिभूतं ततो रूपं सूर्यस्तत्राधिदैवतम् ॥८३॥

तृतीय भूत ज्योति अर्थात् अग्नि है, यहां चक्षु अध्यात्म, रूप अधिभत और सूर्य अधिदेव कहे गये हैं। ॥८३॥

चतुर्थमापो विज्ञेयं जिह्वा चाध्यात्ममुच्यते ।
अधिभूत रसश्चात्र सोमस्तत्राधिदैवतम् ॥८४॥

चतुर्थ भूत जल है वहां जिह्वा अध्यात्म, रस अधिभूत और सोम अधिदैव कहे गये है॥८४॥

पृथिवी पञ्चमं भूतं घ्राणभाध्यात्ममुच्यते ।
अधिभूतं तथा गन्धों वायुस्तत्राधिदैवतम् ॥८५॥

पंचम भूत पृथिवी है. यहां प्राण अध्यात्म, गन्ध अधिभूत और वायु अधिदैव कहे गये हैं ॥८५॥

पादावध्यात्ममित्याहुब्रहाह्मणास्तत्त्वदर्शिनः ।
अधिभूतं तु गन्तव्यं विष्णुस्तत्राधिदैवतम् ॥८६॥

तत्वदर्शी ब्राह्मण कहते है कि पाद (पैर) अध्यात्म है, गन्तव्य अधिभूत है और वहां विष्णु अधिदैव हैं ॥८६॥

अवागूगानरपानश्च पायुरध्यात्ममुच्यते ।
अधिभूतं विसर्गश्च मित्रस्तत्राधिदैवतम् ॥८७॥

निम्न गतिशील अपान है, वहां पायु अध्यात्म, विसर्ग अधिभून और मिन अधिदेव है। ॥८७॥

प्रजनः सर्वभूतानामुपस्योऽध्यात्ममुच्यते ।
अधिभूतं तथा शुक्रं देवतञ्च प्रजापतिः ॥८८॥

सब जीवों का उत्पादक उपस्थ अध्यात्म है, शुक अधिभूत और प्रजापति अधिदैव है ॥८८॥

हस्तावध्यात्ममित्याहुरध्यात्मदिनो जनाः ।
अधिभूतं च कर्माणि शकस्तत्राधिदैवतम् ॥८९॥

अध्यात्म शस्त्र के पण्डितगण दोनों हाथों को अध्यात्म कहते हैं, कर्म अधिभूत और शक्र वहां अधिदैव है ॥८९॥

वैश्वदेवी ततः पूर्वा वागध्यात्ममिहोच्यते ।
वक्तव्यमधिभूतञ्च बह्निस्तत्राधिदैवतम् ॥९०॥

विश्वेदेव से उत्पन्न प्रथम वाणी अध्यात्म है, वक्तव्य अधिभूत और वहां वह्यी अधिदेव है ॥९०॥

अहङ्कारस्तथाऽध्यात्म सर्वसंसारकारकम् ।
अभिमानोऽधिभूतञ्च रुद्रस्तत्राधिदैवतम् ॥९१॥

समस्त संसारका कर्ता अहंकार अध्यात्म है, अभिमान अधिभूत और रुद्र वहां अधिदैव है ॥९१॥

बुद्धिरध्यात्ममित्याहुर्यथावदभिदर्शिनः।
बोद्धव्यमधिभूतं तु क्षेत्रज्ञश्चाधिदैवतम् ॥९२॥

यथार्थ देखनेवाले विद्वद गण बुद्धि को अध्यात्म, ज्ञेय को अधिभूत और क्षेत्रज्ञ को अधिदैव कहते हैं। ॥९२॥

अध्यात्म मन इत्हासु पञ्चभूतात्मवारकम् ।
अधिभूतञ्च संकल्पश्चन्द्रमांश्चाधिदैवतम् ॥९३॥

पञ्चभूतों से आत्मा को आवृत करनेवाला मन अध्यात्म है, संकल्प अधिभूत और चन्द्रमा अधिदेव है ॥९३॥

वेदः शब्दमयं ज्ञेयं मत्स्वरूपं न संशयः।
मन्त्रास्तत्राधिभूतं स्यादीश्वरश्चाधिदैवतम् ॥९४॥

ज्ञानमध्यात्ममित्याहुर्वेदनिष्णातबुद्धयः।
सरस्वत्याश्च गायत्र्याः सावित्र्याश्च तथैव हि ॥९५॥

मच्छक्तिरेव वेदेषु त्रीणि रूपाणि विभ्रंती ।
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तियज्ञशक्तिस्तथा द्विजाः ॥९६॥

एतन्छक्तित्रय नून समुत्पादयतेतराम् ।
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यते विमपुङ्गवाः ॥९७॥

वेद को निःसन्देह मेरा शब्दमय स्वरुप जानना चाहिये। वेद विज्ञ कहते हैं कि वहां श्रुतियां अधिभूत, ईश्वर,अधिदेव और ज्ञान अध्यात्म है। हे विप्रो ! मेरी शक्ति ही सरस्वती गायत्री और सावित्री,ये तीन रूप धारण, करके वेदों में ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और यज्ञ शक्ति इन

तीन शक्तियों को अवश्य ही उत्पन्न करती है है ब्राह्मणश्रेष्ठो! इसमें कुछ सन्देह नहीं ॥९४-९७॥

गमागमयोरेक्यान्छास्त्रेऽपि वेदसम्मते ।
सादृश्यं तु त्रिभावानामेवमेवास्त्यसंशयम् ॥९८॥

अन्तःकरणमेवास्ति कारणं बन्धमोक्षयोः
अहंहकारो मनो बुद्धिश्चित्तश्चैतचतुष्टयम ॥९९॥

तत्राधिभूतमेशस्ति मा तत्राधिदेवतम् ।
ममानन्दविलासश्च तत्राध्यात्म समुच्यते ॥१००॥

वेद और वेदसम्मत शास्त्र एक ही हैं इस कारण उन वेदसम्मत शास्त्रों में भी त्रिभावों का निःसन्देह ऐसा ही सादृश्य है। अन्तःकरण ही बन्ध और मोक्ष का कारण है, यहां मन बुद्धि चित्त और अहंकार यह चारों ही अधिभूत, ब्रह्मा अधिदैव और मेरा आनन्द विलास अध्यात्म कहा जाता है। ॥९८-१००॥

जगद्धारधर्मस्याधिभूतं कर्म प्रोच्यते ।
उपासनाधिदैवं स्यादध्यात्मं ज्ञानमुच्यते ॥१०१॥

जगदधारक धर्म का अधिभूत कर्म अधिदेव उपासना और अध्यात्म जानकार है ॥१०१॥

धर्माङ्गेष्वपि सर्वेषु प्रत्येक विद्यते द्विजाः ।

सम्बन्धी दि त्रिभावानां संशयो नात्र कश्चन ॥१०२॥

हे ब्राह्मणो! सब ब्रह्मांडों में से प्रत्येक धर्मांगो के साथ भी भावत्रय का सम्बन्ध है इसमें कुछ संशय नहीं ॥१०२॥

वेद एवास्ति भो विप्राः ! मदाज्ञायाः प्रकाशकः।
वेदसम्मतशास्त्राणि तस्य व्याख्यानिमानि च ॥१०३॥

हे ब्राह्मणों ! वेद ही मेरी आज्ञा का प्रकाशक है और वेदसम्मत शास्त्रसमूह उसकी व्याख्यारूप है ॥१०३॥

अहमेवासम्यतो वेदे शास्त्रेषु तत्परेषु च।
लौकिकी परकीया च समाधिनामिका तथा ॥१०४॥

एतत्रयेण धृत्वाऽहं त्रिभावं भामि सन्ततम् ।
अधिभूतञ्च विद्यानां सर्वासां शास्त्रमुच्यते ॥१०५॥

अधिदैवमृषिः प्रोक्तमध्यात्म वेद उच्यते।
अधिभूतं ध्रुवं सृष्टः पिण्डसृष्टिमहर्षयः ! ॥१०६॥

ब्रह्माण्डसृष्टिरेवास्ति नूनं तत्राधिदैवतम् ।
सचितोर्नित्यमानन्दविलासोऽध्यात्ममुच्यते ॥१०७॥

अनन्तकोटिब्रह्माण्ड-कारणं यच्च प्रोच्यते ।
पिण्डनाशोऽधिभूतं स्यात्मलयस्य महर्षयः ! ॥१०८॥

प्राहुरज्ञाश्च यं मृत्यु जीवानां रोमहर्पणम् ।
ब्रह्माण्डप्रलयश्चास्ति विप्रा:! तत्राधिदैवतम् ॥१०९॥

अध्यात्म तत्र जीवानां मत्सायुज्यसमागमः ।
जीवस्यावरणं नूनं बन्धकारणमुच्यते ॥११०॥

अधिभूतं हि यस्यास्ति कोषाणां पञ्चकं बुधाः ।
अधिदैवमविद्या मे सत्सत्ताऽध्यात्ममुच्यते ॥१११॥

इस कारण वेद और वेदसम्मत शास्त्रों में मैं ही समाधिभाषा लौकिकभाषा और परकीय भाषा रूप से विविध भावो को धारण करके निरन्तर प्रकाशित होता हूँ। सब विद्याओ का अधिभूत शास्त्र, अधिदैव ऋषि और अध्यात्म वेद कहा गया है। हे महर्षिगण ! सृष्टिका अधिभूत पिण्ड सृष्टि ही है,अधिदैव ब्रह्माण्ड सृष्टि ही है और अध्यात्म मेरे चित् और सत्भाव में आनन्दका निस्य विलास कहा गया है जो अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोका कारण है। हे महर्षिगण ! प्रलय का पिण्ड प्रलय अधिभूत है जिसको अज्ञ लोग जीवो का रोमाञ्चकारी मृत्यु कहते हैं, अधिदेव ब्रह्माण्ड प्रलय है और अध्यात्म प्रलय जीवों के मत्सायुज्य प्राप्त होने को कहते है। पाश अर्थात् आवरण ही जीव के बन्धन का कारण कहा जाता है । हे विज्ञो! जिसका पञ्चकोष अधिभूत अविद्या अधिदेव और मेरी सत सत्ता अध्यात्म है ॥ १०४-१११॥

सामञ्जस्यसुरक्षार्थ सृष्टेरुत्पद्यते तु यः।
देवासुराख्यसंग्रामः पूर्णः सोऽपि त्रिभावतः ॥११२॥

विज्ञा महर्षयो नात्र काचित् कार्या विचारणा।
धर्माधर्ममयीनां यदवृत्तीनां द्वन्द्वसङ्गरम् ॥ ११३ ॥

अन्तः करणमासाध जायते नित्यमदभुतम् ।
देवासुराख्ययुद्धस्य तदेवाध्यात्ममुच्यते ॥११४ ॥

हे विज्ञ ब्राह्मणों ! सृष्टि के सामञ्जस्य की रक्षा के लिये जो देवासुर संग्राम हुआ करता है वह भी त्रिभाव से पूर्ण है यह निःसन्देह है। धर्मा-धर्म वृत्तियों का जो अन्तःकरण में नित्य अद्भुत द्वन्द्ध युद्ध होता है वही उसका अध्यात्म है ॥११२-११४॥

देवासरं देवलोके युद्ध नैमित्तिकं तु यद ।
भवेतदेव भो विमा आस्ते खल्वपिदैवतम् ॥११५॥

दैवीनामासुरीणाञ्च सम्पत्तीनां प्रभावतः।
जायते मृत्युलोके यदमहायुद्धं परस्परम् ॥११६॥

अधिभूतं तदेवास्ति तस्य युद्धस्य निश्चितम् ।
ममैव प्रकृतिनमाश्रयेण ममैव तु ॥११७॥

आविर्भावयते सष्टि-प्रपञ्चं सन्ततं द्विजाः ।
कारणं बन्धनस्यातः प्रकृतेर्मे गुणत्रयम् ॥११८॥

हे ब्राह्मणो ! देवलोकके नैमित्तिक देवासुर संग्राम ही अधिदेव हैं और मृत्युलोक में देवी और आसुरी सम्पत्ति के प्रभाव से जो परस्पर महासंग्राम होता है । वही उसका अधिभूत है यह निश्चय है। हे विप्रो!

मेरी ही प्रकृति मेरे ही आश्रयसे सृष्टिप्रपञ्च निरन्तर प्रकट करती है इस कारण मेरी प्रकृति के तीन गुण बंधन के हेतु होते हैं ॥ ११५-११८॥

ये त्रिभावाश्रयान्मे तु पश्यन्ति प्रकृति मम ।
त्रिभिर्गुणैर्न वध्यन्ते प्रकृतेस्ते कदाचन ॥११९॥

परन्तु जो मेरे तीनों भावों का आश्रय ग्रहण करके मेरी प्रकृति को देखते हैं वह प्रकृति के तीनों गुणो से कभी बन्धन प्राप्त नहीं होते ॥११९॥

मामकीनं स्वकीयञ्च गृहीत्वाऽऽदर्शमुत्तमम् ।
ममैषा प्रकृतिविषा: ! संसारेऽपारसीमाने ॥१२०॥

नारीधारां नृधाराश्च प्रोत्पाद्य विश्वमश्नुते ।।
अतो धाराद्वयेऽस्मिश्च बन्धमोक्षदशाद्वयम् ॥१२१॥

कर्तुं सार्थकमेवास्ति द्विधा भावत्रयं खलु ।
स्पृष्ठेर्दशायां दम्पत्योः क्षेत्रवीजे महर्षयः ! ॥१२२॥

अधिभूतं तथा चास्ते पितरस्त्वाधिदैवतम् ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥१२३॥

अध्यात्म प्रोच्यते तत्र नात्र कश्चन संशयः ।
मुक्तेदशायां दम्पत्योमल्लिङ्गं प्रकृतिश्च मे ॥१२४॥

अधिभूतं तथास्ते सच्चिद्द्रावावधिदैवतम् ।
परमानन्द एवास्ति तत्राध्यात्म न संशयः ॥१२५॥

हे विप्रो ! मेरे और अपने उदाहरण को लेकर मेरी यह प्रकृति अपार संसार में स्त्रीधारा और पुरुषधारा को उत्पन्न करके जगत को परिव्याप्त करती है इस कारण इन दोनों धाराओ में बन्धन दशा और मुक्तदशा इन दोनों की चरितार्थक विचारसे निश्चय ही त्रिभाव के दो भेद हैं। हे महर्षिगण ! सृष्टि दशा में स्त्री और पुरुष में क्षेत्र और बीज अधिभूत, पितृगण अधिदैव और वहां भूतभावोद्भवकर विसर्गरूपी कर्म अध्यात्म कहा जाता है इसमें कुछ संदेह नहीं और मुकिदशा में स्त्री और पुरुष में मेरी प्रकृति और मेरा लिंगरूप अधिभूत, मेरा सत् और चिदभाव अधिदैव और वहाँ निःसन्देह परमानन्द ही अध्यात्म है ॥१२०-१२५॥

ब्राह्मणाः ! इत्यमेवाहं त्रिभावैर्देशकालयोः।
पात्रेऽपि दर्शनं दत्त्वा स्वभक्तान ज्ञानिनो ध्रुवम् ॥१२६॥

प्रकृतेर्वन्धनान्नूनं मोचयामि न संशयः।
एतद्गहरहस्यं यः कथितं विमपुङ्गवाः ॥१२७॥

हे ब्राह्मणों! मैं इसी प्रकार सब देश काल और पात्रो में त्रिभावों से दर्शन देकर प्रकृति के धन से अपने ज्ञानी भक्तों को निश्चय ही बचाया करता हूँ इसमें सन्देह नहीं ! हे ब्राह्मणश्रेष्ठो ! मैंने आपलोगों से यह गूढ रहस्य कहा है ॥ १२६-१२७॥

शुद्धभावमयो यश्च पूर्णशक्तिप्रकाशकः ।
ओतत्सदिति मन्त्रों हि मद्भावत्रयवाचकः ॥१२८॥

भावनाभिस्तदर्थानां तपश्च निरन्तरम् ।
मद्भक्तैज्ञाननिष्णातैर्मन्त्रतत्वपरायणैः ॥१२९॥

अविभक्तज्ञानपूर्णा तैरन्तदृष्टिराप्यते ।
ममैव सच्चिदानन्द भावत्रयसमाश्रयात् ॥१३०॥

नन्त्रध्यात्माधिदेवाधिभूतरूपं महर्षयः ।
भावत्रयं हि सर्वस्मिन् कार्यब्रह्मणि भासते ॥१३१॥

शुद्ध भावमय पूर्ण शक्ति प्रकाशक जो मेरे तीनों भावों का पाचक ॐ ततसत मन्त्र है उसका निरन्तर जप और उसके अर्थी की भावना द्वारा ज्ञान निष्णात और मन्त्रतत्व परायण मेरे भक्तो को अविभक्त ज्ञान पूर्ण अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है। हे महर्षियों ! मेरे ही सत् चित् और आनन्द इन तीनों भावों को आश्रय करके अध्यात्म अधिदैव और अधिभूतरूपी त्रिभाव सम्पूर्ण कार्य ब्रह्म में निश्चय ही प्रकट हैं ॥१२८-१३१॥

दृश्य नातो भवेद किञ्चिच्छून्यं भावत्रयेण वै ॥
प्राप्य भक्ते पराकाष्ठां ज्ञानयोगान्तिमस्थलीम् ॥१३२॥

यदा मे ज्ञानिनो भक्ता मां द्रष्टुं शक्नुवन्ति ह ।
सर्वेषु देशकालेषु तदा भावत्रयं मम ॥१३३॥

भवन्त्यनुभवन्तस्ते मच्चिता नात्र संशयः ।
अघटयघटनायां या प्रकृति पटीयसी ॥१३४॥

सा त्रैगुण्यमयी देवी तमःसत्त्वरजोऽभिधैः ।

त्रिभिगुणैस्तदा नालं बद्धं भक्तान मम प्रियान् ॥१३५॥

अहो मत्प्रकृतिश्चैव विद्यारूपं समाश्रिता।
नयते ज्ञानिनो भक्तान् मत्सायुज्यं न संशयः ॥१३६॥

इस कारण त्रिभाव से रहित कोई दृश्य हो ही नहीं सका । मेरे ज्ञानी भक्त जब ज्ञानयोग की अन्तिम स्थलरूपा भक्ति की पराकाष्ठा को प्राप्त करके मेरे दर्शन करने में समर्थ होते हैं तब वह सब देश और काल में मेरे त्रिभाव का अनुभव करते हुए निःसन्देह मद्गतचित्त हो जाते हैं। उस समय अघटन घटना पटीयसी त्रिगुणमयी मेरी प्रकृति देवी सत्त्व रज और तमरूपी तीनों गुणों से मेरे भक्तों को बन्धन करने में असमर्थ हो जाती है। अहो ! मेरी प्रकृति ही विद्यारूप धारण करके ज्ञानी भक्तो को मत्सायुज्य प्राप्त कराती है, इसमें सन्वेह नहीं ॥ १३२-१३६॥

इति श्रीधीशगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे धीशार्षिसंवादे स्वस्वरूपभाव निरूपणं नाम प्रथमोऽध्यायः।

इस प्रकार श्रीधीशगीतोपनिषद् के ब्रह्मविद्यालम्बन्धि धीशार्षि सम्वादात्मक योगशास्त्र का स्वस्वरूपभाव निरूपणं नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

॥ श्री हरि ॥

॥ श्रीधीशगीता ॥

अथ द्वितीयोऽध्याय : द्वितीय अध्याय

सिद्धिस्वरूप निरूपणम् ।

महर्षय ऊचुः ॥१॥

महर्षिगण बोले ॥१॥

ज्ञात्वा लोकोत्तरं दिव्यं तत्त्वातीतं कृपानिधे!।
परतत्वात्मकं सम्यक् स्वरूपं ते यथार्थतः ॥२॥

दृश्यमप्रपञ्चनजाञ्च परिव्याप्नुवतोऽखिलम् ।
त्रिभावात्मकरूपस्य रहस्यं परमाद्भुतम् ॥३॥

समाकर्ण्य वयं जाताः कृतकृत्या न संशयः ।
किन्त्यन्यदेव नो जातं परं कौतूहलं हृदि ॥४॥

हे कृपानिधे ! आपके लोकोत्तर दिव्य और तत्त्वातीत परम तत्त्वरूपी स्वरुप को यथार्थ रूप से भलीमांति जानकर और सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च समूह में परिव्याप्त आपके त्रिभावात्मक स्वरुप का परम अद्भुत

रहस्य सुनकर हम निस्सन्देह कृतकृत्य हुए है; परन्तु हमारे हृदय में एक अन्य ही महान् कौतूहल (आश्चर्य) उत्पन्न हुआ है ॥२-४॥

पश्यामः साम्प्रतं सप्त-ज्ञानभूमेरुपर्यो ।
भवन्तं सुखमासीनं सुरम्ये कमलासने ॥५॥

अहो ! इस समय हम देख रहे हैं कि सप्त ज्ञानभूमि के ऊपर सुरम्य कमल पर आप सुखपूर्वक आसीन है ॥५॥

धीश सर्वज्ञ ! सर्व्वात्मन्नासितस्यास्य ते विभो ।
सौन्दर्य कमलस्यास्ते वांगमनोबुद्धयगोचरम् ॥६॥

हे सर्वात्मन् ! हे। विभो! सर्वज्ञ धीश ! जिस पर आप बैठे हुए हैं, उस कमल का सौन्दर्य वाक्, मन और बुद्धि से अतीत है ॥६॥

शरीरं भवतो धीश ! रक्तवर्णमपि प्रभो!।
अतीतं सर्ववर्णेभ्यो रक्तादिभ्योऽधुनात्यलम् ॥७॥

तर्पयत्यस्मदीयां वै रूपदर्शनलालसाम् ।
चक्रपद्मत्रिशूलैस्तु मोदकेन च भूपितैः ॥८॥

करैदिव्यैरेभिरस्वैर्भवान् नित्यं चतुर्भुजः ।
कैवल्याभ्युदयौ दातुमिवाश्वासयते च नः ॥९॥

हे प्रभो धीश ! आपके शरीर का वर्ण रक्त होने पर भी वह रक्त आदि सब रंगोंसे अतीत होकर हमारी रूपदर्शन तृष्णा को इस समय भलीभांति तृप्त कर रहा है। आप चतुर्भुज होकर अपने चक्र, पद्म,

त्रिशूल और मोदकरूप दिव्यास्त्रो से विभूषित इन हाथो से अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान करने के लिये मानो हमको नित्य अशान्वित कर रहे हैं। ॥७-६॥

समाधत्ते च नो बुद्धिं भवान् भूत्वा गजाननः ।
उपदिष्टा वयं पूर्व भवता यत्ततस्तव ॥१०॥

ईशा ज्ञातुं स्वरूपस्य रहस्य यत्किमप्यहो ।
सुन्दरी लोहिताङ्गीन्तु भवद्वामाङ्कवत्तिनीम् ॥११॥

शंखक्त्यब्जचक्रातीविभूषितचतुर्भुजाम् ।
यां विश्वमोहिनी देवीं षोडशी शक्तिशालिनीम् ॥१२॥

पश्यामो वयमेतस्याः स्वरूपस्याधुनावधि।
नाज्ञासिष्म रहस्यं तत् कृपां कृत्वैव साम्प्रतम् ॥१३॥

"कास्तेऽसौ? तत्स्वरुपं कि तद्रहस्यञ्च विस्तृतम् ?।
व्यस्तो वर्णयित्वैतव कृतकृत्यान कुरुष्व नः ॥१४॥

और आप गजवदन होकर हमारी बुद्धि को समाहित कर रहे हैं । आपने पहले जो हमें उपदेश दिया है उसके द्वारा अहो ! हम आपके स्वरुप के रहस्य को तो यत्किञ्चित् समझने में समर्थ हुए हैं परन्तु आपके वाम-अंक-वर्तिनी शंख,चक्र शक्ति और पद्म से अति विभूषित चतुर्भजा लोहितवर्णांगी और शक्ति शालिनी षोडशी जगत् मोहिनी जिस देवी को हम लोग देखते हैं उनके स्वरुप का रहस्य अभी तक हमारे समझ में नहीं आया, इसलिये इस समय कृपा करके

ही वे कौन हैं ? उनका स्वरूप क्या है? और उनका विस्तारित रहस्य क्या है ? सो विस्तार पूर्वक वर्णन करके हमको कृतकृत्य कीजिये। ॥१०-१४॥

गणपतिवाच ॥१५॥

गणपति बोले ॥१५॥

शक्तिरेषा ममैवास्ते सर्वकार्यसहायिका।
सिद्धि नाम्रा च यामाहुब्राह्मणा वेदपारगाः ॥१६॥

मेरे सब कार्यों में सहायिका ये देवी मेरी ही शक्ति है, वेदज्ञ ब्राहण गण जिनका सिद्धि नाम से अभिहित करते हैं ॥१६॥

ममैव प्रकृतिविप्राः ! सदा त्रैगुण्यशोभिता।
अत्यन्तं सा प्रसीदन्ती सिद्धिरूपञ्च विभ्रती ॥१७॥

सेवायां में रता निखं मामुपाश्रित्य राजते ।
पूर्णाङ्गललिता रम्या षोडशी सर्वसुन्दरी ॥१८॥

चक्राब्जशंखशक्तीनां धारिणी शक्तिरूपिणी ।
सिद्धिर्विच्यातते नैव सेवातो मे कदाचन ॥१९॥

हे विप्रवृन्द ! मेरी त्रिगुणशोभित प्रकृति ही सिद्धिरूप धारण करके सदा मेरी सेवा में अति प्रसन्न होकर रत रहती हुई निरन्तर मेरा आश्रय करके शोभायमान है। पुर्ण अवयव सुशोभित षोड़शी सर्व सौन्दर्य

समन्विता मनोहारिणी शहद चक्र शक्ति पद्म धारिणी शक्तिरूपिणी सिद्धि किसी समय भी मेरी सेवा से च्युत नहीं होती है॥१७-१९॥

अपि चन्निरपक्षोऽहं तत्सेवाऽऽदानकर्मणि ।
शुश्रूपते तथाप्येपा धृत्वा रूपं चतुर्विधम् ॥२०॥

यद्यपि मैं इसकी सेवा ग्रहण करने में निरपेक्ष रहता हूँ तो भी यह चतुर्विध रूप धारण करके मेरी सेवा की इच्छा करती है ॥२०॥

नन्वध्यात्माधिदेवाधिभूतानि सहजं तथा ।
सिद्धरस्या हि रूपाणि चत्वारि ब्राह्मणोत्तमाः। ॥२१॥

इसी कारण हे ब्राह्मण श्रेष्ठो! इस सिद्धि के चार भेद हैं यथा- अधिभूतसिद्धि, अधिदेवसिद्धि, अध्यात्मसिद्धि और सहजसिद्धि ॥२१॥

ऐश्वर्य्यस्य चिता यद्वत् वलस्य च सता यथा ।
सम्बन्धः कर्मणः शक्तया रूपस्य तेजसा सह ॥२२॥

तथैवास्ते च सम्बन्धः सिद्धेः सार्द्धं मया ध्रुवम् ।
सम्बन्धोऽयमपूर्वोऽस्ति नात्र कार्या विचारणा ॥२३॥

जिस प्रकार चित् के साथ ऐश्वर्य का सम्बन्ध है, सत् के साथ बल का सम्बन्ध है, शक्ति के साथ कर्म का सम्बन्ध है और तेजके साथ रूप का सम्बन्ध है उसी प्रकार मेरे साथ सिद्धि का नित्य सम्बन्ध है । यह सम्बन्ध अलौकिक है, इसमें विचार नहीं करना चाहिए। ॥२२-२३॥

विष्णोः प्रिया यथा लक्ष्मीः प्रिया श्यामा शिवस्य च ।
ब्रह्ममय्या महाशक्ते प्रिय आस्ते यथा पुनः ॥२४॥

चिद्विलासात्मको भावः स्वकार्यब्रह्मणः खलु ।
अरुणोऽस्ति यथा विज्ञाः ! सूर्यदेवस्य च प्रियः ॥२५॥
महार्षयस्तथैवास्ते सिद्धिरेपा हि मे प्रिया।
परन्तु निर्विकारं मां निर्लिप्त ज्ञानरूपिणम् ॥२६॥

स्वप्रेमावरणे सिद्धिर्नासज्जयितुमस्त्यलम् ।
अलौकिकोऽस्ति सम्बन्धः सिद्धयैवं मे महर्षयः ! ॥२७॥

हे विज्ञो ! जिस प्रकार विष्णु को लक्ष्मी प्रिय है, शम्भु को श्यामा प्रिय है और पुनः जिस प्रकार ब्रह्मरूपिणी महाशक्ति को स्वकार्य ब्रह्म का चिद विलास रूप भाव प्रिय है, एवं जिस प्रकार सूर्यदेव को अरुण प्रिय है उसी प्रकारसे हे महर्षि गण ! मुझको यह सिद्धि ही प्रिय है, परन्तु निर्लिप्त निर्विकार और ज्ञान स्वरुप मुझको सिद्धि अपने प्रेम आचरण से फंसा नहीं सकती। हे महर्षिगण ! इस प्रकार का सिद्धि के साथ मेरा अलौकिक सम्बन्ध है ॥२४-२७॥

मन्त्रसिद्धिस्तपासिद्धिर्योगसिद्धिस्तथैव च ।
एवं नानाविधा लोके विख्याता याश्च सिद्धयः ॥२८॥

उत याः सिद्धयो विमा ऐश्यः सन्त्यणिमादयः ।
जैव्यो वा सिद्धयः सन्ति या मेधामतिभादयः ॥२९॥

ओषधीसिद्धयो याश्च या रसायनमूलिकाः ।

पदार्थसिद्धयो याश्च विश्वस्मिन्मन्त्रदर्शिनः ! ॥३०॥

बलसिद्धिर्द्रव्यसिद्धिः सिद्धिश्च पुरुषार्थगा।
सम्मोहनादयः ख्याताः सन्ति वा याश्च सिद्धयः ॥३१॥

ज्ञानस्य सिद्धयो नाना वेदशास्त्रप्रकाशिकाः ।
सर्वास्तास्न्ति मत्सिद्धेरङ्गभूता न संशयः ॥३२॥

जगत में जो, मन्त्रसिद्धि तपसिद्धि और योगसिद्धि, इस प्रकार नानाविध सिद्धियां प्रचलित हैं और हे विप्रगण! जगत् में जो अणिमा लघिमा आदि ऐशी सिद्धियां हैं अथवा जो मेधाप्रतिभा आदि जैवसिद्धियां प्रचलित हैं या जगत में जो औषधि. सिद्धि ,रसायनसिद्धि और पदार्थसिद्धि नाम से प्रचलित हैं और हे मन्त्रदर्शि गण! जगत में जो धनसिद्धि. बलसिद्धि, पुरुषार्थसिद्धि, संमोहिन करने की सिद्धि आदि प्रचलित है और जगत में जो वेद तथा नानाशास्त्र के प्रकाश की जो नाना ज्ञान सम्बन्धीय सिद्धियां हैं वह सब मेरी सिद्धि की ही अंगभूत हैं इसमें सन्देह नहीं। ॥२८-३२॥

जन्मौपधिपदोपास्तितपोमन्त्रसमाधिभिः।
संयमेनापि लभ्यन्ते सिद्धयोऽलौकिका द्विजाः !॥३३॥

हे विप्रो! जन्म, पद,औषधि मन्त्र, उपासना, तप, संयम और समाधि के द्वारा अलौकिक सिद्धियां प्राप्त होती हैं ॥३३॥

अष्टोपायाः प्रधाना हि सन्तीमे सिद्धिलब्धये ।

सन्ति जातिस्मरत्वादिसिद्धयो जन्मसिद्धयः॥३४॥

सिद्धिलाभ के लिये ये ही पाठ उपाय प्रधान हैं। जातिस्मरत्व आदि सिद्धियां जन्म सिद्धियां हैं॥३४॥

या सिद्धगुटिका कायकल्पश्चैव रसायनम ।
अन्या चैवंविधा सिद्धिरोषधीसिद्धिरुच्यते ॥३५॥

सिद्धगुटि का कायाकल्प रसायन और इस प्रकार को अन्यान्य सिद्धियां ओषधि सिद्धियां कहलाती हैं ॥३५॥

नैमित्तिक्यश्च या देव-शक्तयो राजशक्तयः ।
अन्याश्चैवविधाः सर्वाः शक्तयः पदसिद्धयः ॥३६॥

राजशक्ति और नैमित्तिक देवशक्ति और अन्यान्य इस प्रकार को सव शक्तियां पद-सिद्धियां कहलाती हैं ॥३६॥

उपास्तेः सिद्धयः सन्ति देवतादर्शनादयः।
यासु सिद्धिषु लब्धामु जायतेऽभ्युदयो ध्रुवम् ॥३७॥

देवदर्शनादि उपासना सिद्धियां कहलाती हैं जिनके प्राप्त होने पर अवश्य अभ्युदय होता है। ॥३७॥

षड़वशीकरणादीनि यानि कर्माणि सन्ति च ।
अन्यान्यन्तर्भवन्त्येवं मन्त्रसिद्रौ न संशयः ॥३८॥

वशीकरणादि षट्कर्म तथा उसी प्रकार की और सिद्धियां मन्त्रसिद्धि के अन्तर्गत हैं इसमें सन्देह नहीं है ॥३८॥

नैवास्त्यवाम्वधा सिद्धिर्दैवी वा कापि लौकिकी।
या संयमसमाधिभ्यां लभ्येत तपसा न वा ॥३९॥

तप संयम और समाधि द्वारा दैवी या लौकिकी ऐसी कोई भी सिद्धि नहीं जो प्राप्त न हो सके ॥३९॥

चतुर्विधा हि लभ्यन्ते सिद्धयो निश्चितं द्विजाः !!
उपायैरष्टभिः प्रोक्तैनात्र कार्या विचारणा ॥४०॥

हे विप्रो ! इन आठ उपायों के द्वारा चतुर्विध ही सिद्धियां निश्चय प्राप्त हुआ करती है इसमें विचार नहीं करना चाहिए ॥४०॥

अनन्ताः सिद्धयो याश्च लोके मच्छक्तिसम्भवाः ।
विभक्तास्सन्ति तास्सर्वाश्चतुर्धेव मया पुरा ॥४१॥

तासाञ्च लब्धये नूनमुपाया अष्ट निर्मिताः ।
तैरेव ताश्च प्राप्यन्ते निश्चितं विप्रपुङ्गवाः ! ॥४२॥

संसारमें मेरी शक्ति से उत्पन्न जो अनन्त प्रकार की सिद्धियां हैं मेरे द्वारा पहले ही से वह सभी चार श्रेणियों में विभक्त हैं और उनकी

प्राप्ति के लिये ही आठ उपाय मैंने विधान किये हैं, हे ब्राह्मणो! उन्हीं के द्वारा वह अवश्य प्राप्त होती हैं। ॥ ४१-४२ ॥

कुर्वाणा लौकिकं कार्ये सन्ति याः सिद्धयोऽखिलाः ।
ता ज्ञेया निखिला विप्रा आधिभौतिकसिद्धयः ॥४३॥

या देवकार्यकारिण्यः सिद्धयः सम्प्रकीर्तिताः।
ता ज्ञेया आधिदैविक्यः सिद्धयो निखिलाः खलु ॥४४॥

सिद्धयो ज्ञानविज्ञान-प्रकाशिन्यश्च या इह ।
आध्यात्मिक्यश्च सर्वास्ताः सिद्धयः प्रोचिरे बुधैः ॥४५॥

हे विप्रो ! सब लौकिक कार्यकारिणी सिद्धियो को आधिभौतिक सिद्धियां, देवकार्य कारिणी सभी सिद्धियों को अधिदैविक सिद्धियां और ज्ञानविज्ञान प्रकाशक सब सिद्धियोंको संसारमें बुधगण अध्यात्मिक सिद्धियां कहते हैं। ॥४३-४५ ॥

भवतां मन्त्रद्रष्ट्रणां सिद्धयोऽन्तर्गता इह ।
नैवात्र विस्मयः कार्यो भवद्भिविमपुङ्गवाः ! ॥४६॥

मन्त्रद्रष्टा आपलोगों की सिद्धियां हे विप्रश्रेष्ठो! इसी सिद्धि के अन्तर्गत हैं इसमें विस्मय न करो ॥४६॥

सहजाख्या तु था सिद्धिर्वर्तते विज्ञसत्तमाः!।

एताभ्यः सर्वसिद्धिभ्यः सां नितान्तमलौकिकी ॥४७॥

परन्तु हे विज्ञवरों ! सहज नाम्नी जो सिद्धि है वह इन सब सिद्धियों से अत्यन्त अलौकिक है ॥४७॥

ममावतारवृन्देऽसौ स्वत एव प्रकाशते।
तत्वज्ञानमहात्मानो मनोनाशेन वै ध्रुवम् ॥४८॥

निर्वासनतया चैवोन्मूलयन्तः स्वजीवताम् ।
शिवरूपीभवन्तश्च समाधौ निर्विकल्पके ॥४९॥

तिष्ठन्तो यान्ति मय्येव लयमेकान्ततो यदा ।
मदिच्छया तदा तेषु सहजा कहिचिद्भवेत् ॥५०॥

मेरे अवतारों में इस सहज सिद्धि का स्वतः ही अत्यन्त विकाश होता है और महापुरुषगण जब तत्ववान वासनाक्षय और मनोनाश के द्वारा अपने जीवभाव को निश्चय नाश करके ही शिवस्वरूप हो निर्विकल्प समाधिस्थ रहते हुए मुझ में ही एकदम लीन होते हैं तब उनमें मेरी इच्छा से कभी कभी सहज सिद्धि का विकाश हुआ करता है ॥४८-५०॥

उन्नताः सहजा बहव्यः सिद्धयो यद्यपि द्विजाः ।
तास्वहो सन्ति मुख्यास्तु त्रयस्त्रिंशच केवलम् ॥५१॥

हे ब्राह्मणों ! यद्यपि उच्चश्रेणी की सहज सिद्धियां अनेक है तो भी अहो! उनमें से केवल तैतीस ही मुख्य हैं। ॥५१॥

योगिवृन्देऽवतारेषु जीवन्मुक्तमहात्मनु ।
तपस्विषु प्रकाशन्ते त्रयस्त्रिंशच सिद्धयः ॥५२॥

अवतारों में, योगियों में और जीवन्मुक्त महापुरुषों तथा तपस्वियों में तैतीस प्रकार की सिद्धियां प्रकट होती हैं ॥५२॥

समाहितैर्भवद्भिस्ताः श्रूयन्तां वर्णयाम्यहम् ।
तासां नामानि पुण्यानि भवतामन्तिके द्विजाः ! ॥५३॥

हे ब्राह्मणो ! उनके पवित्र नामों का वर्णन आपके समीप करता हूँ उनको आप लोग सावधान होकर सुनो ॥५३॥

एताः सर्वाः सिद्धयो हि वेदशास्त्रेषु वर्णिताः ।
अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा ॥५४॥

वशित्वं गरिमेशित्वे तथा कामावसायिता ।
दूरश्रवणमेवालं परकायप्रवेशनम् ॥५५॥

अणिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकास्य, महिमा, वशित्व, गरिमा, ईशित्व, कामावसायिता, दूरश्रवण, परकायप्रवेश, मनोयायित्व, अभीप्सित सर्वज्ञत्व, वह्नीस्तम्स, जलस्तम्भ, चिरजी

मनोयायित्वभेवेति सर्वज्ञत्वमभीप्सितम् ।
बाह्निस्तम्भो जलस्तम्भः चिरजीवित्वमेव वा ॥५६॥

वायुस्तम्भः क्षुतपिपासानिद्रास्तम्भनमेव च ।
कायवसृदश्य वाकसिद्धिमृतानयनमीप्सितम् ॥५७॥

सृष्टिसंहारवर्तृत्वं प्राणार्पणमेव च ।
प्राणानाञ्च प्रदानञ्च लोभादीनाञ्च स्तम्भनम् ॥५८॥

इन्द्रियाणां स्तम्भनञ्च बुद्धिस्तम्भनमेव च ।
कल्पवृक्षत्वसत्यानुसन्धाने अमरत्वकम् ॥५९॥

वित्य, वायुस्तम्भ, क्षत्रस्तम्भ, पिपासास्तम्भ, निद्रास्तम्भ, कायव्यूह, वाक् सिद्धि, ईप्सितमृतानयन, सृष्टिकर्तृत्व, संहारकर्तृत्व, प्रणाकपैण, प्राणप्रदान, लोमादिस्तम्भन, इन्द्रियस्तम्भन, बुद्धिस्तम्भन, कल्पवृक्षत्व, अमरत्व और सत्यानुसन्धान, ये सब सिद्धयां वेद और शास्त्रो में वर्णित है। ॥५४-५९॥

अघटयघटनायां या प्रकृतिमे पटीयसी।
जगद्विमोहिनी सैव महामायापराभिधा ॥६०॥

महतो ज्ञानिनश्चैवं योगिनोऽपि तपस्विनः।
सिद्धिसाथैरनेकैर्ही मोह्यंती निरन्तरम् ॥६१॥

आवागमनचक्रेऽस्मिन् स्वविलासात्मके मुहुः ।
मोक्षमार्गञ्च रुन्धना पूर्णयेत समन्ततः ॥६२॥

जो अघटन घटना पटीयसी जगद्विमोहिनी मेरी प्रकृति है और जिसका दूसरा नाम महामाया है वही तपसियों को योगियों को और बड़े बड़े ज्ञानियों को भी नानासिद्धियों के द्वारा ही निरन्तर विमोहित करके मुक्तिमार्ग को रोकती हुई अपने विलास स्वरुप इस अवागमनचक्र मे चारों ओर बार बार घुमाया करती है ॥ ६०-६२॥

ब्राह्मणाः प्रकृतिमऽसौ महामायापराभिधा ।
किन्तु मे ज्ञानिनो भक्तान मोहितुं न कदाप्यलम् ॥६३॥

परन्तु हे ब्राह्मणों! महामायानाम्नी यह मेरी प्रकृति मेरे ज्ञानी भक्तों को कदापि विमोहित नहीं कर सक्ती ॥६३॥

कुलाङ्गनानां साध्वीनामङ्गानाशिव दर्शनम् ।
ज्ञानिनां मम भक्तानां भवेत् सिद्धिप्रकाशनम् ॥६४॥

मेरे ज्ञानी भक्तो का सिद्धियो को प्रकाश करना सती कुल कामिनियों के अंग दिखाने के समान होता है ॥६४॥

पुरुषांश्च परान् कांश्चिद् यथा काश्चित् कुलाङ्गनाः।
दर्शनाय निजाङ्गानां न क्षमन्ते कदाचन ॥६५॥

भवन्त्युत्कण्ठिताः किन्तु सर्वथा जनसंसदि।
दर्शनाय निजागानां निर्लज्जाः कुलटा मुहुः ॥६६॥

सर्वसामर्थ्यवन्तोऽपि मद्भक्ता ज्ञानिनस्तथा ।

सिद्धिं स्वां नैव भो विप्रा! द्योतयन्ते कदाचन ॥६७॥

योगिनों भक्तिहीनास्तु लक्ष्यहीनास्तपस्विनः ।
साधका उग्रकर्म्माणो ज्ञानहीनास्तथा द्विजाः! ॥६८॥

स्वीयाः सिद्धीर्वणिग्वृत्त्या सम्प्रकाश्य पतन्सलम् ।
प्रकाश्याः सिद्धयो नैव सर्वथाऽतो महात्मभिः ॥६९॥

जिस प्रकार हे विप्रो! कोई भी कुलकामिनियां कदापि किन्हीं पर-पुरुषों को अपने अंगों को नहीं दिखा सकती परन्तु निर्लजा कुलटा अर्थात् व्यभिचारिणी स्त्रियां जनसमाज में सब प्रकारसे अपने अंगों को बार बार दिखाने के लिये उत्कण्ठित रहती हैं उसी प्रकार मेरे ज्ञानी भक्तगण सर्वसमर्थ होने पर भी अपनी सिद्धि को कदापि प्रकट नहीं करते किन्तु हे ब्राह्मणो ! लक्ष्य हीन तप हीन, भक्ति हीन योगी और ज्ञान हीन उनका साधक वाणिक वृत्ति ले अपनी सिद्धयो को प्रकट करके अत्यन्त पतित होते हैं; इसलिये सर्वथा महात्माओं को सिद्धियां प्रकाशित नहीं करना चाहिये। ॥६५-६९॥

कदाचिभ्रातरः पुत्रा आत्मीयाः स्वजना उत ।
दैवादनिच्छयेक्षेरन यथाङ्गानि कुलस्त्रियाः ॥७०॥

ज्ञानिनां मम भक्तानां सिद्धीनां वैभव तथा।
प्रकटत्वं हठादयाति देवाल्लोके कदाचन ॥७१॥

जिस प्रकार भ्राता पुत्र आत्मीय और स्वजन अनिच्छा से कभी कभी कुल कामिनी का अंग दर्शन दैवात् कर लेते हैं उसी प्रकार मेरे ज्ञानी भक्तों का सिद्धिवैभव दैवात् कभी कभी जगत् में हठात् प्रकाशित हो जाता है ॥७०-७१ ॥

हस्ताभ्यां मे यथा सिद्धिर्द्वाभ्यां विप्रा निरन्तरम् ।
मायामोहितजीवेभ्यः शक्त्यर्थो प्रददत्यलम् ॥७२॥

बध्नात्यस्मिन् हि संसारे कारागारे चिरन्तने ।
तथाऽन्याभ्यां स्वहस्ताभ्यां धर्मार्थौ वितरन्त्यहो ॥७३॥

मदत्ते ज्ञानिभक्तेभ्यः कैवल्याभ्युदयो ध्रुवम् ।
साधका मोहिता अज्ञाः कर्मस्वासक्तमानसाः ॥७४॥

माययोत्पादिताः सिद्धीः संसारे क्षणभङ्गराः।
परिणामस्वभावा हि लब्ध्वा तत्सेवया मुहुः ॥७५॥

नरके स्वर्गलोके च लोकयोः पितृप्रेतयोः ।
नित्यं घूयमानास्ते सन्तप्यन्ते त्रितापतः ॥७६॥

हे विप्रो ! मेरी सिद्धि जिस प्रकार दो हाथोंसे मायाविमोहित जीवों को निरन्तर अर्थ और शक्ति को भलीभांति देती हुई चिरन्तन कारागार रूपी संसार में फंसा रखती है, उसी प्रकार अपने अन्य दो हाथों से धर्म और अर्थ देती हुई ज्ञानीभक्तों को अभ्युदय और निःश्रेयस अवश्य प्रदान करती है। मोहित, ज्ञानहीन, कर्मासक्तचित्त साधक क्षणभङ्गर

परिणामशील और माया से उत्पन्न सिद्धियो को संसार में प्राप्त करके उनकी सेवा द्वारा बार बार नरकलोक, स्वर्गलोक प्रेतलोक और पितृलोक में नित्य घूमते हुए वह त्रिताप से तापित होते रहते हैं ॥७२-७६॥

किन्तु मे ज्ञानिनो भक्ताः परमानन्दसागरम् ।
स्वरूपं तत्त्वतो ज्ञात्वा सचिदानन्दरूपकम् ॥७७॥

समस्तसिद्धिसर्वस्वं मामेव प्राप्नुवन्त्यलम् ।
निरापदं पदं श्रेष्ठमधिकुर्वन्ति मे ततः ॥७८॥

परन्तु मेरे ज्ञानी भक्तगण परमानन्दसागर सचिदानन्दमय स्वरूप को यथार्थ रूप से जानकर समस्त सिद्धियों का सर्वस्व अर्थात् परमसिद्धि रूपी मुझको ही भलीभांति प्राप्त करते हैं उसके बाद मेरे परमपद के अनायास अधिकारी हो जाते है ॥७७-७८॥

मच्छक्तिरूपिणी सिद्धिः प्रभावात्यन्तशोभिनी ।
मद्भक्तोर्विमुखाञ्जीवान मत्तोऽलञ्च निवर्त्य सा ॥७९॥

संसारापारपाथोधावज्ञानावर्तसम्भ्रमे ।
निपात्य नितरां शश्वत् क्लिश्नातीह महर्षयः ॥८०॥

मेरी शक्तिरूपिणी सिद्धि अति प्रभावशालिनी है। महर्षिगण वह मुझमें भक्तिहीन जीवों को मुझसे अत्यन्त विमुख करके और अज्ञान रूपी आवर्त (जलभंवर) से संकुल इस संसाररूपी अपार समुद्र में निरन्तर गिराकर सर्वदा क्लेशित करती है। ॥७९-८०॥

भजतोऽनन्यभक्तया मां भूयोऽसौ साधकान वरान् ।
मत्समीपं समानीय कृतार्थान् कुरुते द्रुतम् ॥८१॥

और पुनः वह मुझमें अनन्य भक्ति करनेवाले श्रेष्ठ साधकों को मेरे निकट पहुंचा कर शीघ्र कृतार्थ कर देती है ॥८१॥

यथा स्नेहमयी माता स्वात्मजानतियत्नतः ।
वर्द्धयन्ती प्रसादेन पुष्णन्ती पालयन्त्यपि ॥८२॥

अधिकारयते क्षिप्रं परमं मङ्गलास्पदम् ।
तथा कारुण्यपूर्णाऽसौ सिद्धिर्मातेव सर्वदा ॥ ८३ ॥

आर्त्तानर्थार्थीनो भक्तान जिज्ञासूंस्त्रीनिमान्मम ।
नूनमानन्दसन्दोमुत्साहञ्च ददत्यलम् ॥८४॥

विघतेऽग्रेसरान क्षिप्रमाभिमुख्येन मे च तान ।
मम सेवारतायाश्च स्वरूपं प्रकृतदिधा ॥८५॥

विभक्तं वर्तते विज्ञा: ! नात्र कार्या विचारणा।
एका पराभिधा ज्ञेया द्वितीयाऽपरनामिका ॥८६॥

जिस प्रकार स्नेहमयी माता अपने पुत्रो को बड़े यत्न से पालती पोसती और प्रसन्नता से बढ़ाती हुई परम मङ्गलमय अधिकार को शीघ्र प्राप्त करा देती है उसी प्रकार करुणामयी यह सिद्धि सदा माता के समान आर्त जिज्ञासु और अर्थार्थी इन मेरे त्रिविध भक्तों को निश्चय ही परम

आनन्द समूह और उत्साह भलीभांति देती हुई उनको शीघ्र मेरी ओर अग्रसर करती है । हे विज्ञवरों ! मेरी सेवा में रत प्रकृति के स्वरूप दो प्रकार से विभक्त है, इसमें विचारने की कोई बात नहीं है, एक को परा और एक को अपरा जानो ॥८२-८६॥

अपरानामिका जीवान प्रकृतिमेऽखिलानलम् ।
गुणत्रयात्मके जाले स्वस्मिन्नाश्लिष्य मायया ॥८७॥

इन्द्रस्यानुभवं तैश्च कारयन्ती निरन्तरम् ।
स्वविलासात्मकं लीलामयं जनयते जगत् ॥८८॥

अपरा नाम की मेरी प्रकृति अपने त्रिगुणात्मक जाल में सब जीवों को माया से फंसा कर उनको द्वन्द्व का अनुभव निरन्तर कराती हुई अपने विलासरूपी लीलामय संसार को प्रकट करती है ॥८७-८८॥

परा में प्रकृनिर्धन्या साधकानां हृदम्बुजे।
भ्रद्रावली पराभक्ति सन्निवेश्य महर्षयः ! ॥८९॥

वीक्षयन्ती त्रयाणाञ्च गुणानां वैभवं मुहुः।
द्वन्द्वातीतं पदं नीत्वा मामेनान दर्शयत्यहो ॥९०॥

और हे महर्षिगण ! मेरी धन्या परा प्रकृति साधकों के हृदय पल में मेरी भक्ति रूपिणी भृंगावली को संनिविष्ट करके त्रिगुणा वैभव को बार बार दर्शन कराती हुई उनको द्वन्दातीत पद में पहुंचा कर अहो ! मेरा दर्शन करा देती है ॥८९-९०॥

अतो विज्ञवरा अत्र प्रकृतेर्मे दशाद्वये ।
ममं सिद्धिस्वरूपस्य विकाशोऽपि द्विधा भवेत् ॥९१॥

अपरा सिद्धिरेकास्ति द्वितीया च परामिधा ! ।
नैकोक्तसिद्धिरूपाणि नानारूपाणि विभ्रती ॥९२॥

सिद्धिर्मेऽस्त्यपरानाम्नी नात्र वः संशयो भवेत् ।
ज्ञानाधिकारिणो विप्राः ! पूज्या सिद्धिः पराभिधा ॥९३॥

चिन्मयी सात्विकी नित्या हिताऽद्वैतविधायिनी।
स्वरूपानन्दसन्दोहयोतिनी सा प्रकीर्तिता ॥९४॥

इसी कारण हे विज्ञवरों! मेरी प्रकृति की इन दो दशाओं में मेरी सिद्धि के स्वरूप का विकास भी द्विविध होता है। एक परा सिद्धि और दूसरी अपरा सिद्धि नामसे अभिहित होती है। सिद्धि के जो अनेक रूप पहले कहे गये हैं वह अनेक रूपधारिणी सिद्धि मेरी अपरा सिद्धि है इसमें आपलोगों को सन्देह नहीं होना चाहिये। हे ज्ञान के अधिकारी ब्राह्मणो ! जो पूज्या परा नाम की सिद्धि है वह चिन्मयी सात्त्विकी नित्या हिता अद्वैतकारिणी और स्वारूपानन्द सन्दोह प्रकाशिनी कही गई है। ॥९१-९४॥

ऐश्यो मे सिद्धयो विप्राः ! कामनामन्तरेण मे।
प्रकटत्वं हि संसारे नैव यान्ति कदाचन ॥९५॥

हे ब्राह्मणो ! मेरी ऐशी सिद्धियां मेरी इच्छा के बिना संसार में कदापि प्रकाशित नहीं ही हो सक्ती ॥९५॥

मामकीना यतः शक्तिर्न स्वेच्छाचारिणी भवेत् ।
अतो ममावतारेषु ज्ञानिष्वपि कदाचन ॥९६॥

मद्भक्तेषु प्रकाशेरन्नैश्यो मे सिद्धयः स्वतः।
ममावतारन्दानामाविर्भावो महर्षयः ॥९७॥

अथवा ज्ञानिभक्तषु ह्यौश्याः सिद्धेः प्रकाशनम् ।
समष्टेजीववर्गस्य कर्मणो निघ्नमस्त्यहो ॥९८॥

क्योंकि मेरा शक्ति स्वेच्छाचारिणी नहीं हो सकती, इसी कारण मेरे अवतारों मे और कभी कभी मेरे ज्ञानी भक्तों में भी मेरी ऐशी सिद्धयों का प्रकाश स्वतः हुआ करता है। हे महर्षिगण ! मेरे अवतार समूह का अविर्भाव अथवा ज्ञानी भक्तों में ऐशी सिद्धि का विकास अहो ! जीवों के समष्टि कर्माधीन है। ॥९६-९८॥

सन्त्यतः सिद्धयो विप्रा ऐश्योऽत्यन्तं सुदुर्लभाः।
स्वरूप मम सिद्धेश्च ज्ञात्वा सम्यङ्‌हर्षयः ॥९९॥

कदाचिदपरासिद्धेर्माश्लिष्यध्वं हि बन्धने ।
चिन्मच्या मे परासिद्धेमहत्वं परमाद्भुतम् ॥१००॥

ज्ञात्वोपास्य च तामेवाद्वैतानन्दप्रकाशकम् ।
द्वन्द्वातीतं लभध्वं हि शाश्वतं परमं पदम् ॥१०१॥

इसी कारण हे ब्राह्मणो ! ऐशी सिद्धियां अत्यन्त दुर्लभ है। हे महर्षियों ! आप मेरे स्वरूप और मेरी सिद्धि के स्वरूप को भलीप्रकार जानकर कभी भी मेरी अपरा सिद्धि के बन्धन-जाल में न फंसो और मेरी चिन्मयी परासिद्धि के परम अद्भुत महत्त्व को जानकर और उसकी ही उपासना करके इन्द्वातीत अद्वैतानन्द प्रकाशक सनातन परमपद को प्राप्त करो ॥९९-१०१॥

स्थिरं लक्ष्यं विधायैवं द्विजाः ! सिद्धिस्वरूपिणि ।
आयुधे मोदके नूनं त्रिशूले मे त्रितापके ॥१०२॥

दृष्टिक्षेपं न कुर्वीरन भवन्तो हि कदाचन।
चक्रपद्मस्वरूपौ हि धर्ममोक्षौ निरन्तरम् ॥१०३॥

अग्रेसरेयुः संलक्ष्य बाधां नेयुः कदाचन ।
सत्यमेतद्धि जानीत नात्र कश्चन संशयः ॥ १०४॥

हे ब्राह्मणो! आप इस प्रकार स्थिर लक्ष्य रखकर मेरे त्रिताप रूपी त्रिशूल और सिद्धि रूपी मोदक जो आयुध हैं उनकी ओर कभी भी दृष्टि रखो और चक्र और पद्मरूपी धर्म और मोक्ष पर निरन्तर लक्ष्य रखकर अग्रसर हो, कभी बाधाको प्राप्त नहीं होगे, इसको सत्य जानो, इसमें कुछ संशय नहीं है ॥१०२-१०४॥

इति श्रीधीशगीतासूपनिपत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे धीशर्षिसंवादे सिद्धिस्वरूपनिरूपणं नाम द्वितीयोऽध्यायः।

इस प्रकार श्रीधीशगीतोपनिषद मे ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योगशास्त्र का धीशर्षिसम्वादात्मक सिद्धिस्वरुप निरूपण नाम का द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

॥ श्री हरि ॥
॥ श्रीधीश गीता ॥

अथ तृतियोऽध्याय : तृतीय अध्याय

ज्ञानभूमि निरूपणम्

महार्षय ऊचुः ॥१॥

महर्षिगण बोले ॥१॥

सर्वशक्तिमन् ! धीश! भगवन् ! सर्वसिद्धिद!।
हे विभो ! सर्वसिद्धीनां नित्याधारस्वरूपवन् ! ॥२॥

परासिद्धेः कृपाप्राप्यतै पूर्व तद्दर्शनं ध्रुवम् ।
आवश्यकीयमेवास्ति तदुपायानतो वद ॥३॥

यर्नः स्याद्दर्शनं नूनं परासिद्धभिरापदम् ।
यथा वा नः कतार्थत्वमुपदिश्यामहे तथा ॥४॥

हे सर्वशक्तिमान, विभो ! हे सर्वसिद्धियों के नित्य आधार स्वरुप ! हे सर्वसिद्धिदायिन्! हे भगवन् धीश ! परासिद्धि की कृपा प्राप्ति के लिए प्रथम उनके दर्शनलाभ की निश्चय ही आवश्यकता है अतः उसके उपाय कहें जिनके द्वारा परासिद्धि के दर्शन हमलोगों को अनायास

ही हो अथवा जिस प्रकार से हमलोग कृतार्थ हो सो उपदेश कीजिये ॥२-४॥

गणपतिरुवाच ॥५॥

गणपति बोले ॥५॥

विद्यास्वरूपिणी नित्यां परासिद्धिं मदाश्रयाम् ।
तत्वनानसुनिष्णाताः महापौरष् शालिनः ॥६॥

दिव्यदृष्ट्या निरीक्षन्ते ज्ञानिना ज्ञानभूमिषु।
तत्वज्ञाः शान्तचेतस्काः साधकास्तु यथायथम् ॥७॥

क्रमादग्रेसरन्तीह सप्तसु ज्ञानभूमिषु ।
मम विद्यास्वरूपायाः परासिद्धेस्तथातथम् ॥ ८॥

उत्तरोत्तरमत्यन्तं स्पष्ट रूपस्य दर्शनम् ।
प्राप्नुवन्तो निमज्जन्ति परमानन्दसागरे ॥९॥

नित्या और विद्यास्वरूपिणी मेरी परासिद्धि का दर्शन ज्ञान भूमियों में तत्त्वज्ञाननिष्ठ ज्ञानी महापुरुषों को दिव्यदृष्टि से हुआ करता है और इस संसार में शान्तचित्त तत्व ज्ञानी साधक क्रमशः जैसे जैसे सप्तज्ञान भूमियों में अग्रसर होते जाते हैं वैसे वैसे उत्तरोत्तर मेरी विद्या रूपिणी परासिद्धि के स्वरूप का अत्यन्त स्पष्ट दर्शन प्राप्त करते हुए परमानन्द सागर में निमग्न होते जाते हैं ॥६-९॥

अहं ज्ञानस्वरूपोऽस्मि नूनं विज्ञवरा द्विजाः ।
तटस्थञ्च स्वरूपश्च द्विविध ज्ञानमीरितम् ॥१०॥

ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयमेषां भानैः समन्वितः।
यत्र त्रिपुटिसम्बन्धो विद्यते विप्रपुङ्गवाः ॥११॥

ज्ञानं स्यात्ततटस्थाख्यं स्वरूपज्ञानकारणम् ।
ज्ञानेऽस्मिश्च तटस्थाख्ये स्वरूपस्य द्विजोत्तमाः ॥१२॥

सच्चिदानन्दभावानामनुभूतिः पृथक् पृथक् ।
स्यादतस्तत्र सम्पूर्ण दृश्यजातं प्रतीयते ॥१३॥

हे विज्ञवर ब्राह्मणो ! मैं ज्ञानस्वरुप ही हूँ और ज्ञान दो प्रकार का कहा गया है। एक तटस्थज्ञान और दूसरा स्वरुप ज्ञान। हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों ! जहां ज्ञाता और ज्ञेयों के भान से युक्त त्रिपुटि का सम्बन्ध है वही स्वरूप ज्ञान का कारण भूत तटस्थ ज्ञान है हे ब्राह्मणों ! इस तटस्थशान मे सत् चित् और आनन्दभावों का स्वरुप पृथक् पृथक् अनुभूत होता है इस कारण उस अवस्था में सम्पूर्ण दृश्यसमूह प्रतीत होता है ॥१०-१३॥

यत्र त्रिपुटिसम्बन्धलेशमात्रं न विद्यते ।
सच्चिदानन्दभावानामनुभूतिः पृथड्न च ॥१४॥

जहां त्रिपुटि सम्बन्ध का लेशमात्र नहीं है, जहां सत् चित् और आनन्द भाव का स्वतंत्र अनुभव नहीं है और जहां यह तीनों ही अद्वैत भाव में निरन्तर स्थित है वहीं उत्तम स्वरूपज्ञान का उदय होता है ॥१४-१५॥

यत्राप्येतत्त्रयं तिष्ठेदावेऽद्वैते निरन्तरम् ।
उदेति निश्चितं तत्र स्वरूपज्ञानमुत्तमम ॥१५॥

तटस्थ ज्ञान बहुभावो से युक्त है क्योकि अहंतत्व और महत्तत्व दोनों संयोग से उसका अस्तित्व है ॥१६॥

यत्तोऽस्तित्वं तटस्थस्याहंमहत्वयोगतः।
तटस्थानमन्त्यस्मानहुभावैः समन्वितम ॥१६॥

पूर्ण ज्ञानं स्वम्पन्तु शाश्वतञ्चाविकारि च ।
तत्त्वानीते पदेऽस्त्यस्य परमे नित्यसंस्थितिः ॥१७॥

परन्तु स्वरूपज्ञान नित्यं अविकारी और पूर्ण है और तत्त्वातीत परमपद में उसकी नित्य स्थिति विद्यमान रहती है ॥१७॥

परिणामितटस्याखयाजूब्रानानान्नूनं शनैः शनैः ।
स्वरूपमुदयनज्ञज्ञानं यदास्ते विप्रपुङ्गवाः ॥१८॥

सर्वेषु प्राणिवृन्देम्वविभक्तं निखिलेषु च।
देगेषु सर्वकालेषु पात्रेषु विविधेषु च ॥१९॥

विकाररहितं सर्वभूतेष्वेकत्वदर्शकम ।
उन्नतं सात्त्विकं ज्ञानं तत्त्वज्ञेषु महात्मसु ॥२०॥

तदा प्रकाशते नूनं स्वत्त एव न संशयः ।
तत्प्राभावात्स्वरूपस्य ज्ञानस्यानुभवं किल ॥२१॥

कुर्वन्त्येव निरायासं मुक्तात्मानो महर्षयः ।
नैवात्र विस्मयः कार्यः सत्यमेतद्ब्रवामि वः ॥२२॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठो ! जब परिणामशील तटस्थज्ञान से ही शनैः शनैः स्वरुप ज्ञान का उदय होने लगता है उस समय तत्त्वज्ञानी महात्माओं में सर्वभूतों में अधिभक्त, सब देश काल और पात्रों में विकार रहित और सर्वभूतों में एक भाव को दिखानेवाला ही उन्नत सात्यिक ज्ञान स्वतः ही प्रकाशित होता है, इसमें सन्देह नहीं है महर्षिगण ! उसके प्रभाव से ही मुक्तात्मा स्वरूप ज्ञान का अनुभव अनायास ही कर लेते हैं, मैं आपलोगों से सत्य कहता हूँ इसमें विस्मय न करो ॥१८-२२॥

यथा शब्दं विनाऽऽकाशो विना स्पर्शं समीरणः।
रूपेणैवं विना बहिर्जलं खलु रसंविना ॥२३॥

यथा गन्धं विना पृथ्वी नैव तिष्ठेत कदाचन।
तथा तटस्थज्ञानस्य नोदयोऽहङ्कृति विना ॥२४॥

जैसे शब्द् के बिना आकाश, स्पर्श के बिना वायु,रूप के बिना अग्नि, रस के बिना जल और गन्ध के बिना पृथिवी का अस्तित्व कभी भी

नहीं रह सकता उसी प्रकार अहंकार के विना तटस्थ ज्ञान का उदय नहीं हो सकता ॥२३-२४ ॥

नैव सम्भाव्यते किन्तु स्वरूपे द्वैतमण्वपि।
अतो ज्ञानं स्वरूपाख्यं स्वस्वरूपं ममैव तत् ॥२५॥

परन्तु स्वरूपज्ञान में अणुमात्र भी द्वैत की संभावना नहीं है इस कारण वह मेरा ही स्वरूप है।॥२५॥

अविद्याजनितं विमा विभक्तज्ञानमस्त्य हो ।
विद्यासम्भूतमेवास्त्यविभक्तज्ञानमुत्तमम् ॥२६॥

हे ब्राह्मणो ! अहो विभक्त ज्ञान अविद्यासम्भूत है और उत्तम अबिभक्त ज्ञान विद्यासम्भूत ही है ॥२६॥

अस्म्यहं ज्ञानरूपत्वाञ्चेज्ज्ञानद्वयमप्यहो ।
अविभक्तं तथाप्येतज्ज्ञानं दत्ते परम्पदम् ॥२७॥

अहो ! मैं ज्ञान रूप हूँ इस कारण यद्यपि दोनों ज्ञान में हूँ तथापि यह अविभक्त ज्ञान परम पद की प्राप्ति कराता है ॥२७॥

मत्तो जीवान् दवयते विभक्तज्ञानमत्यहो।
विभक्तज्ञानतो नीत्वाऽविभक्तज्ञानमन्दिरम् ॥२८॥

मुमुक्षुन स्वस्वरूपं मे नूनं नेतुं निरापदम् ।

श्रुतिभिर्वर्णिताः पूर्व सप्तैव ज्ञानभूमयः ॥२९॥

और अहो ! विभक्त ज्ञान जीवों को मुझसे अत्यन्त अलग स्थित रखता है । मुमुक्षओं को विभक्त ज्ञान से अविभक्त ज्ञानमन्दिर में पहुंचाकर मेरे स्वस्वरूप में अनायास ही पहुंचाने के लिये वेदों ने पहले ही सात ज्ञानभूमियों का वर्णन किया है॥२८-२९॥

विश्वबन्धनकत्रीपु समस्वज्ञानभूमिषु ।
अज्ञानान्धाः सदा जीरा आसज्जन्ते विमोहिताः ॥३०॥

विश्वको बन्धन प्राप्त करानेवाली सात अज्ञान भूमिकाओं में अन्नानान्ध जीव विमोहित होकर सदा फंसे रहते हैं ॥३०॥

श्रौतानां कर्मकाण्डानां साहाय्यात्साधकाः खलु ।
पूर्व शरीरसंशुद्धिं मनाशुद्धिं ततः परम् ॥३१॥

कृत्वा पश्चान्ममोपास्त्या चित्तहत्ती प्रशम्य च ।
अधिकारं लभन्तेऽन्ते तत्त्वज्ञानस्य दुर्लभम् ॥३२॥

वेदविहित कर्मकाण्ड की सहायता से साधक प्रथम शरीर की शुद्धि और तदनन्तर मन की शुद्धि सम्पादन करके तत्पश्चात् मेरी उपासना के द्वारा चित्त की वृत्तियो को शान्त करके अन्त में तत्त्वज्ञान का दुलभ अधिकार प्राप्त करते हैं ॥३१-३२॥

नतश्च क्रमशो विप्राः ! सोपानारोहणं यथा ।

ज्ञानभूमीश्च सप्तवमतिक्रम्य शनैः शनैः ॥३३॥

ज्ञानपूर्णान्तरात्मानो मामन्ते प्राप्नुवन्ति ते ।
ज्ञानक्रमविकाशैहि पूर्णाः स्वाभाविकैरतः ॥३४॥

सप्तैवा ज्ञानभूम्यो में परासिद्धेः कृपावशात् ।
स्वरूपज्ञानसँल्लब्धर्वहन्ते हेतुतामलम् ॥३५॥

एवं तदन्तर हे ब्राह्मणों ! क्रमशः सातो ज्ञानभूमियों को सोपानारोहण के समान शनैः शनैः अतिक्रमण करके अन्त में वह पूर्ण ज्ञानी होकर मुझको प्राप्त कर लेते हैं इस कारण स्वाभाव सिद्ध ज्ञान के क्रमविकास से पूर्ण यह सातो ज्ञानभूमियां मेरी परासिद्धि की कृपा से मेरे स्वरुप ज्ञान प्राप्ति की अत्यन्त कारणरूपा हैं ॥ ३३-३५॥

सप्तानां ज्ञानभूमीनां प्रथमा ज्ञानदा भवेत् ।
सन्न्यासदा द्वितीया स्वात्तृतीया योगदा भवेत् ॥३६॥

लीलोन्मुक्तिश्चतुर्थी स्यात्पञ्चमी सत्पदा स्मृता ।
षष्ठयानन्दपदा जेया सप्तमी च परात्परा ॥३७॥

सातों ज्ञान भूमियों में से प्रथमा ज्ञानदा, द्वितीया सन्यासदा. तृतीया योगदा, चतुर्थी लीलोन्मुक्ति पञ्चमी सत्यदा, षष्ठी आनन्दपदा और सप्तमी परात्परा है। ॥३६-३७॥

यावज्जीवैरनिक्रान्ता न सप्ताऽज्ञानभूमयः ।
तावन्न प्रथमा भूमिर्ज्ञानस्य जानदाऽऽप्यते ॥३८॥

जब तक जीवों ने सप्त अज्ञानभूमियों का अतिक्रमण नहीं किया है तब तक प्रथम ज्ञानभूमि ज्ञानदा की प्राप्ति नहीं होती है ॥३८॥

उद्भिज्जानां चिदाकाशे प्रथमाऽज्ञानभूमिका ।
स्वेदजानां चिदाकाशे सा द्वितीय प्रकीर्तिता ! ॥३९॥

उद्भिजों के चिदाकाश में प्रथम अज्ञानभूमि है. स्वेदजों के चिदाकाश में द्वितीय अज्ञानभूमि कही गई है ॥३९॥

तृतीयाऽण्डजजतिश्चाज्ञानभूमिश्चिदाश्रिता ।
जगजपशनाभ चिदाकाशे चतुर्य्यसौ॥४०॥

अण्डजों के चिदाकाश में तृतीय अज्ञानभूमि है और जरायुज पशुओ के चिदाकाश में चतुर्थ अज्ञानभूमि है ॥४०॥

पञ्चकोषपूर्णवाधिकारिष्वेव वै नृपु।
सन्ति शेषा अधिकृतास्तिनस्त्वज्ञानभृमयः ॥४१॥

परन्तु पांच कोषों के पूर्णता की अधिकारि मनुष्य योनि में ही शेष तीनों अज्ञानभूमियो का अधिकार है।॥४१॥

निस्रस्ता एव कथ्यन्त उत्तमाधममध्यमाः ।
विशदं ताः प्रचक्षेऽहं श्रृयन्तां विप्रपुङ्गवः ॥४२॥

वह ही तीनों उत्तम मध्यन और अधम अज्ञान भूमियां कहाती हैं है श्रेष्ठ ब्राह्मणो! मैं उनको स्पष्टरूपसे कहता है सुनो ॥४२॥

एता अज्ञानभूर्मिहि निसरेव समूलतः ।
मूर्तिमन्नः स्वयं वेदा निराकर्तु समुद्ययताः ॥४३॥

इन्हीं तीनों अज्ञान भूमियों के समूल निराकरण के लिये वेद स्वयं मूर्तिधारण करके प्रवृत्त हैं ॥४३॥

अधमाऽज्ञानभूमौ हि यावन्मर्त्यः प्रसज्जते ।
कृतेऽपराधे दग्दः स्यतिर्य्यग्योनों तदुद्भवः ॥४४॥

अधम अज्ञान भृमि में जब तक मनुष्य फंसा रहता है उसको अपराध करने पर तिर्यक योनि की प्राप्ति दण्ड रूप से हुआ करती है ॥४४॥

मध्यज्ञानभूमेश्च मानवैरधिकारिभिः ।
पितृलोकास्तथा विप्राः नारकाश्च पुनः पुनः ॥४५॥

प्राप्यन्ते मृत्युलोकश्च मुखदुःखादिपूरितः ।
ददात्यूद्धर्वभञ्च स्वलांकमुत्तमाऽज्ञानभूमिका ॥४६॥

और हे ब्राह्मणों ! मध्यम अज्ञान भूमि के अधिकारी मनुष्यो को पितृलोक, नरकलोक और सुखदुःखपूर्ण मृत्युलोक की प्राप्ति बार बार ती है एवं सर्वोन्नत अज्ञानभूमि ऊर्द्ध स्वर्गलोक प्रदानकारी है ॥४५-४६॥

अधमाज्ञानभमिञ्च प्राप्ता मर्त्या भवन्त्यहो।
देहात्मवादिनाऽनार्या नास्तिकाः शौचवर्जिताः ॥४७॥

अधम अज्ञान भूमि प्राप्त मनुष्य अहो ! नास्तिक देहात्मवाही अशुचि और अनार्य होते हैं ॥४७॥

मध्यमाऽज्ञानभूमेस्तु मानवा अधिकारिणः ।
आस्तिकत्वेन भो विप्राः ! सद्विचारपरायणाः ॥४८॥

देहात्मनोर्हि पार्थक्यं विश्वसन्तोऽपि सर्वथा ।
इन्द्रियाणां मुखे मना नितरामैहलौकिके ॥४९॥

विस्मरन्ति महामूढा: सुखं ते पारलौकिकम।
उत्तमाऽज्ञानभूमेर्वे पुण्यवन्तोऽधिकारिणः ॥५०॥

आत्माऽतिरिक्तं मे शक्तेर्मन्वाऽस्तिन्वं द्विजर्षभाः।
स्वर्गीयस्य सुखस्यैव जायन्ते तेऽधिकारिणः ॥५१॥

परन्तु हे ब्राह्मणो! मध्यम अज्ञानभूमि के अधिकारी मनुष्य आस्तिक होने से देह से आत्मा को पृथकता पर सर्वथा विश्वास करते हुए और सद्विचार परायण होते हुए भी वे महामूढ़ एहलौकिक इन्द्रिय सुख में अत्यन्त मग्न होकर पारलौकिक सुख को भूले रहते हैं। हे ब्राह्मणों! उत्तम अज्ञानभूमि के ही पुण्यवान् अधिकारी आत्मा से अतिरिक्त मेरी शक्ति का अस्तित्व मानकर वह स्वर्गीय सुख के ही अधिकारी हुआ करते हैं। ॥४८-५१॥

अधमाऽज्ञानभूमि तमोमुरख्या विजृम्भते।
तमोरज:प्रधाना च मध्यमाऽसौ प्रकीतिता ॥५२॥

उत्तमाऽज्ञानभूमिश्च रजःसत्त्वप्रधानिका ।
शुद्धसत्त्वविकाशस्य स्थले नूनं यथाक्रमम ॥५३॥

पुण्यभाजां मनुष्याणां चित्ताकाशे ततो द्विजाः।
सप्तानां ज्ञानभूमीनामधिकाराः क्रमेण हि ॥५४॥

समुद्यन्ति ध्रुवं देवदुर्लभानां स्वभावत: ।
ज्ञानभूम्यश्च सप्तैता साधकान्तहृदि क्रमात॥५५॥

शुद्धं सत्त्वगुणं सम्यम्वर्द्धयन्त्यो निरन्तरम् ।
निःश्रेयसपदं नित्यं गुणातीतं नयन्त्यलम् ॥५६॥

अधम अज्ञानभूमि तमप्रधान, मध्यम अज्ञानभूमि तमरज प्रधान और उत्तम अज्ञानभूमि रजसत्त्व प्रधान कही गई है। इसके अनन्तर हे ब्राह्मणो ! शुद्ध सत्त्व के क्रमविकास स्थलरूपी पुण्यवान् मनुष्यों के चित्ताकाश में देवदुर्लभ सप्तज्ञान भूमियों के अधिकार क्रमशः स्वभाव से ही उदय होते है और क्रमशः ये सातो ज्ञानभूमियाँ साधक के अन्तःकरण में शुद्ध सत्त्व की भलीभांति निरन्तर वृद्धि करती हुई नित्य और गुणातीत कैवल्यपद में निश्चय पहुंचा देती हैं ॥५२-५६॥

यत्किञ्चिदासीजज्ञातव्यं ज्ञातं सर्व मयति धीः ।
आद्याया भूमिकायाश्चानुभवः परिकीर्तितः ॥८७॥

मुझे जो कुछ जानने योग्य था सो सब कुछ जान लिया है ऐसी बुद्धि होना प्रथम ज्ञान भूमि का अनुभव कहा गया है ॥५७॥

त्याज्यं त्यक्तं मयेत्येवं द्वितीयोऽनुभवो मतः।
प्राप्या शक्तिर्मया लब्धानुभवो हि तृतीयकः ॥५८॥

मुझे त्यागना था सो त्याग दिया है यह दूसरी ज्ञान भूमि का अनुभव माना गया है। मुझे जो शक्ति प्राप्त करनी थी सो प्राप्त करली है यह तीसरी ज्ञान भूमि का अनुभव है। ॥५८॥

मायाविलसितं चैतदृश्यते सर्वमेव हि ।
न तत्र मेऽभिलापोऽस्ति चतुर्थोऽनुभवो मतः ॥५९॥

यह मायाकी लीला मुझे सव ही दिखाई देती है मैं उसमें मोहित नहीं होता यह चतुर्थ ज्ञानभूमि का अनुभव है ॥५९॥

जगन्नात्यनुभवः पञ्चमः परिकीर्तितः ।
ब्रह्मैवेदं जगत, षष्ठोऽनुभवः किल कथ्यते ॥६०॥

जगत् ही ब्रह्म है यह पञ्चम ज्ञानभूमिका अनुभव कहा गया है। ब्रह्म ही यह जगत् है निश्चय ही यह षष्ठ ज्ञानभूमिका अनुभव कहा गया है ॥६०॥

अद्वितीयं निर्विकारं सचिदानन्दरूपकम् ।
ब्रह्माऽहमस्मीति मतिः सप्तमोऽनुभवो मतः ॥६१॥

और मैं अद्वितीय निर्विकार सच्चिदानन्दमय ब्रह्म हूँ ऐसी बुद्धि सप्तम ज्ञानभूमि का अनुभव माना गया है ॥६१॥

इमां भूमि प्रपद्यैव ब्रह्मसारूप्यमाप्यते ।
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यते मुनिसत्तमाः ! ॥६२॥

इस भूमि को प्राप्त करके ही साधक ब्रह्म स्वरुप हो जाता है हे मुनिश्रेष्ठो ! इसमें कुछ सन्देह नहीं है।॥६२॥

श्रवणं मननश्चैव निदिध्यासनमेव च ।
पुरुषार्थास्त्रिधा प्रोक्ता एत एव महार्षयः ! ॥६३॥

हे महर्षियो! श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप यह ही त्रिविध पुरुषार्थ कहे गये हैं।॥६३॥

मुमुक्षूणां त्रिभिः सम्यङ्गमसामीप्यलब्धये ।
पुरुषार्थैरुपेतानामतैः साधनशैलयः ॥६४॥

सप्तानां ज्ञानभूमीनां सप्त सोपानसनिभाः ।
प्रासादपृष्ठमारोढूँ यथा सोपानपङ्क्तयः ॥६५॥

तथा तटस्थज्ञानस्य सप्तौता ज्ञानभूमयः ।
सप्तसोपानतुल्याः स्युः स्वरूपज्ञानलब्धये ॥६६॥

मुमुक्षुओं को मेरे पास अच्छी तरह पहुंचने के लिये इन्हीं त्रिविध पुरुषार्थो से युक्त सातो ज्ञानभूमियो की साधन शैलियां सात सोपानरूप हैं। जिस प्रकार किसी राजभवनक्री छत पर चढ़ने के लिये सीढियां होती है उसी प्रकार स्वरुप ज्ञान में पहुंचने के लिये तटस्थज्ञान की यह सात ज्ञानभूमियां सात सीढ़ियों के समान है ॥६४-६६॥

आद्यायां ज्ञानदानाम्न्यां ज्ञानभूम्यां मुमुक्षवः ।
अन्तर्दृष्टिं लभेरंस्ते तत्वजिज्ञासवो द्विजाः॥३७॥

हे तत्वजिज्ञासु ब्राह्मणो ! ज्ञानदानाम्नी प्रथम ज्ञानभूमि में वे मुमुक्ष अंतर्दृष्टि प्राप्त करने लगते हैं। ॥६७॥

तदा जिज्ञासवो नूनं परमाणुस्वरूपतः।
स्थूलान्येव ममाङ्गानि ज्ञात्वा नित्यानि सर्वथा ॥६८॥

षोडशधा विभक्तानि दृष्ट्वा तान्येव मे पुनः ।
वादसाहाय्यतो वापि पर्यालोचनलोचनैः ॥६९॥

सृष्टिं निरीक्ष्य तस्याश्च कर्तारं केवलं हि माम् ।
शक्नुवन्ति बुधा विप्राः ! अनुमातुं कुलालवत् ॥७०॥

हे ब्राह्मणों ! उस समय जिज्ञासु पण्डितगण मेरे स्थूल अवयवों को ही परमाणु रूप से सर्वथा नित्य जानकर और उन्हीं मेरे स्थूल अवयव रूप विभागों को षोडश संख्या में विभक्त देखकर ही वाद की सहायता से अथवा परर्या लोचना दृष्टि के द्वारा सृष्टि को देखकर और

मुझ को कुलालक समान केवल उस सृष्टि के कर्तारूप से ही अनुमान करने में समर्थ होते हैं। ॥६८-७०॥

अस्याञ्च ज्ञानभूमौ हि क्षेत्रे तत्त्वज्ञमानसे ।
आत्मज्ञानीयवीजस्य प्ररोहो जायते ध्रुवम् ॥७१॥

इसी प्रथम ज्ञान भूमि में तत्वज्ञानी के हृदय रूप क्षेत्र में आत्मज्ञानरूप बीज का अंकुर निश्चय उत्पन्न हो जाता है॥७१॥

एनां वदन्त्यतो भूमि ज्ञानदां ज्ञानिनो जनाः ।
ददात्येपा यतो भूमिर्जानं नित्यं मुमुक्षवे ॥७२॥

इस कारण ज्ञानीलोग इस ज्ञानभूमि को ज्ञानदा कहते हैं क्योंकि यह ज्ञानभूमि मुमुक्ष को नित्य ज्ञान प्रदान करती है ॥७२॥

आरुढ़ानां जानभूमावेतस्यां नियमेन च ।
ममोपास्तौ प्रवृत्तानां येन केन प्रकारतः ॥७३॥

मुमक्षणां ध्रुवं चिते ज्ञानवायुप्रकम्पितम् ।
मूलमज्ञानक्षस्य सर्वथा शिथिलायते ॥७४॥

इस ज्ञान भूमि में पहुंचे हुए और किसी न किसी प्रकार से मेरी उपासना में नियम पूर्वक लगे हुए मुमुक्षओं के चित्त में ज्ञानवायु से भलीभांति कंपाया सुश्रा अज्ञानवृक्ष का मूल सर्वथा शिथिल हो जाता है ॥७३-७४॥

सन्न्यासदाभिधायां हि ज्ञानभूभ्याम्प्रतिष्ठिताः ।

मुगुक्षवः शरीर मे स्थलमल्पसमीपतः ॥७५॥

सम्पश्यन्तो ममाङ्गेपु स्थूलेप्वेव महर्षयः।
कुर्वन्तः सूक्ष्मशक्तीनामनुमृति निरन्तरम् ॥७६॥ ।।

धर्माधर्मौ च निर्णीय ह्यधर्म त्यक्तुमीशते ।
ज्ञानभूमिद्वितीयाऽत एषा सन्न्यासदोच्यते ॥७७॥

हे महर्षियों ! सन्न्यासदानाम्नी द्वितीय ज्ञानभूमि में स्थित मुमुक्ष ही मेरे स्थूल शरीर को कुछ निकट से देखते हुए मेरे स्थूल अवयवों में ही सूक्ष्म शक्तियों का निरन्तर अनुभव करते हुए और धर्माधर्म का निर्णय करके अधर्म के त्याग करने की योग्यता प्राप्त कर ही लेते हैं इसी कारण इस दूसरी ज्ञानभूमि का नाम सन्न्यासदा कहा जाता है ॥७५-७७॥

योगदायां तृतीयायां ज्ञानभूम्यां मुमुक्षवः।
चित्तवृत्तिनिरोधस्य कुर्वन्तोऽभ्यासमुत्तमम् ॥७८॥

मच्छक्तिं संयमेनैतां माम्पुनर्ब्राह्मणोत्तमाः ।
अभ्यासेनैकतत्त्वस्य पृथक्त्वेन निरीक्षितुम् ॥७९॥

यस्मिन् काले प्रवर्तन्ते सूक्ष्मदृष्टिस्वरूपकम् ।
साधकेषु तदोदोत प्रत्यक्षं नन्वलौकिकम् ॥८०॥

हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! योगदा नाम्नी तीसरी ज्ञानभूमि में मुमुक्षु चित्तवृत्ति निरोध करने का उत्तम अभ्यास करते हुए संयम के द्वारा इस मेरी

शक्ति को और एक तत्त्वक अभ्यास द्वारा मुझको अलग अलग रूप से देखने में जब प्रवृत्त होते है उस समय साधकों में सूक्ष्मदृष्टिरूपी अलौकिक प्रत्यक्ष का उदय होता है। ॥७८-८०॥

ज्ञानभूमिमिमां विज्ञा योगदाश्च वदन्यतः।
चित्तवृत्तिनिरोध यद्योगमेषा ददात्यलम ॥८१॥

इसी कारण विज्ञलोग इस ज्ञानभूमि को योगदा कहते हैं क्योंकि यह चित्तवृत्ति निरोध रूपी योग को भलीभांति प्रदान करती है ॥८१॥

लीलोन्मुक्तिं चतुर्थी वै ज्ञानभूमि प्रपद्य च ।
अघव्यघटनायां हि पटीयस्या मुमुक्षवः ॥८२॥

त्रैगुण्यलीलामय्या मे तत्वम्वै प्रकृतेर्विदुः।
तदा लीलामी स्वस्यां लीलायां प्रकृतिः पुनः ॥८३॥

नासज्जयितुमीष्टे तान साधकान् विज्ञसत्तमाः ।
लीलोन्मुक्तिं बुधाः प्रोचुर्ज्ञानभूमिमिमामतः ॥८४॥

और हे विज्ञवरों ! लीलोन्मुक्ति नाम्नी , चतुर्थी ज्ञानभूमि में पहुंचकर ही मेरी लीलामयी अघटन घटना पटीयसी त्रिगुणात्मिका प्रकृति के तत्व को मुमुक्ष निश्चय ही पहचान लेते हैं, उस समय लीलामयी प्रकृति अपनी लीला में उन साधकों का पुनः नहीं फंसा सकती, इस कारण इस ज्ञानभूमि को बुधगण ने लीलोन्मुक्ति कहा है ॥८२-८४॥

पञ्चमी ज्ञानभूमि ते यदा सम्प्राप्य सत्पदाम्।
अभेद ज्ञानमाप्तुं वै चित्ते स्वस्मिन् मुमुक्षकः ॥८५॥

आरभन्ते तदा तेषामनु भूर्तेहि शक्तयः।
विशेषेण विवर्द्धन्ते नात्र कार्या विचारणा ॥८६॥

सत्पदा नाम की पञ्चमी ज्ञान भूमि में पहुंचकर वह मुमुक्षु जब अपने ही अन्तःकरण में अभेद ज्ञान को प्राप्त करने लगते हैं उसी समय उनकी अनुभव शक्तियां विशेष बढ़ने लगती हैं इसमें विचारने की बात नहीं हैं ॥८५-८६॥

अस्त्येकत्लादभेदो यो मन्मत्मकृतिगोचरः।
यो वाऽभेदोऽस्ति में विमाः ! कार्यकारणरूपयोः ॥८७॥

तं वैज्ञानिकनेत्रण विस्पष्ट ज्ञातुमीशते।
ज्ञात्वा सम्यग्रहस्यञ्च विश्वोत्पादककर्मणः ॥८८॥

जगदेवास्म्यहमिति मां निरीक्ष्य विचारतः।
कार्यब्रह्मण एतस्य विबुध्यन्ते स्म सत्यताम् ॥८९॥

हे विप्रों ! एकत्व के कारण मुझमें और मेरी प्रकृति में जो अभेद है अथवा मेरे कारणस्वरूप और कार्य स्वरुप में जो अभेद है वैज्ञानिक दृष्टि के द्वारा उसको वह स्पष्ट रूप से समझने में समर्थ होते हैं और जगदुत्पत्तिकारक कर्म का रहस्य अच्छी तरह समझकर जगत् ही मैं

हूँ इस विचार से मुझको देखकर इस कार्य ब्रह्म की सत्यता जान लेते हैं ॥८७-८९॥

एनां वदन्ति विद्वांसो भूमि वै सत्पदामतः।
सद्भावस्य यतोऽमुष्या ज्ञानं लोकैरवाप्यते ॥९०॥

इसी कारण इस ज्ञानभूमि को ही विद्वान लोग सत्पदा कहते हैं क्योंकि इसके द्वारा सदुभाव का ज्ञान लोगों को प्राप्त होता है। ॥९०॥

नन्वानन्दपदां पष्ठी ज्ञानभूमि भपच वै ।
एकाधारे तु मत्येव मम भक्ता समक्षवः ॥९१॥

कर्मराज्यं जडं विप्राः ! देवराज्यञ्च चेतनम !
शक्नुवन्ति यदा द्रष्ट्र तदा में रससागरे!॥९२॥

उन्मजन्तो निमजन्नो जगदित्यहमेव माम ।
समीक्षमाणा अद्वैतनन्दमुक्षुभुन्गाते ॥९३॥

और हे विप्रो ! आनन्दपद नाम की षष्ठी ज्ञानभूमि में पहुंचकर ही मेरे भक्त मुमुक्षु मुझमें ही जड़मय कर्मराज्य और चेतनमय दैव राज्य को एकाधार में जब देखने में समर्थ होते है तब यह मेरे रससागर में उन्मजन निमजन करते हुए, मैं ही जगत हूँ, इस प्रकार मुझको देखकर अद्वैत आनन्द का उपभोग करते हैं ॥९१-९३ ॥

बुधाः सम्पोचुरानन्दपदामदां भूमिभिरमावनः ।

आनन्दः साधकार्यस्पादस्यां भूमाववाप्य्ते ॥९४॥

इसी कारण इस ज्ञान भूमि को बुधगण आनन्द प्रद करने योग इस भूमि में साधक आनन्द प्राप्त करते है ॥९४॥

अन्तिमा ज्ञानभूमि में सप्तमीञ्च परात्पराम ।
सम्प्राप्य ज्ञानिना भक्ताः कार्यकारणोदिर्जा: ॥९५॥

भेददृष्टिलयं कृत्वा स्वरूपे यान्ति में लयम ।
भेदज्ञानलयेनैव तेषां शुद्धान्तरात्मि ॥९६ ॥

सर्वेषु प्राणिवृन्देष किलैकत्र प्रदर्शकम ।
अद्वैतभावजनकाऽविभत्ताज्ञानमुत्तमम ॥९७॥

उदेति नात्र सन्देहोऽज्ञानवान्नापनोदकम ।
तदा मे ज्ञानिभक्तषु मयि भेदश्च नश्यति ॥९८॥

हे विप्रो ! परास्परा नाम की सप्तमी और अन्तिम ज्ञान भूमि में मेरे ज्ञानभक्त पहुंच कर कार्य कारण की भेद दृष्टि का लय करके मेरे स्वरुप में लय हो जाते हैं और भेदमान के लय होने ही उनके विशुद्ध अन्त: करण में, सबभूतों में ऐक्यप्रदर्शक अज्ञान अन्धकार नाशक और अद्वैतभाव-उत्पादक अविभक्त ज्ञान का उत्तम रीति से उदय होता है इसमें सन्देह ही नहीं है उस समय मेरे ज्ञानी भक्तों में और मुझमें भेदभाव नष्ट हो जाता है ॥९५-९८॥

लीयन्ते मत्स्वरूपे ते स्वरूपज्ञानसंश्रयात ।
अतो वदन्ति विद्वांस इमां भूमि परात्पराम् ॥९९॥

वह मेरे स्वरूप में स्वरूपज्ञान के अंवलम्वन से विलीन हो जाते हैं इसी कारण इस भूमि को विद्वान् लोग परात्परा कहते हैं ॥९९॥

एतासां ज्ञानभूमीनां केचित्तत्वबुभुत्सवः।
स्थूलदृष्ट्या विरोधं यच्छकन्ते तत्र साम्प्रतम् ॥१००॥

साधारण दृष्टि से इन सातो ज्ञान भूमियों में कोई कोई तस्वजिज्ञासु जो विरोध भाव की शंका करते है वह ठीक नहीं है ॥१००॥

हे विज्ञानविदो विप्राः ! नन्वज्ञानस्य सप्तभि।
प्रपूर्ण सप्तभिः सम्यक् तथा ज्ञानस्य भूमिभिः॥१०१॥

हे विज्ञानविद् ब्राह्मणो! सप्त अज्ञान भूमि और सप्त ज्ञानभूमि से ही भलीभांति पूर्ण परमाद्भत महाकाश गोलक है, उसं गोलक के नीचे के सात स्तर सप्त छाया से पूर्ण हैं ॥१०१-१०२॥

नूनमास्ते महाकाश-गोलक परमाद्भुतम् ।
तस्य निम्नस्तराः सप्त सप्तच्छायाप्रपूरिताः ॥१०२॥

उच्चैः सप्तस्तराः सप्तज्योतिर्मिश्चैव पूरिताः।
अधः छायास्तराः सन्ति चत्वारो हि समष्टितः ॥१०३॥

चतुर्धा भूतसंघाना चिदाकाशेन पूरिताः।

स्तरा अज्ञानभूमीनां तत उर्ध्व गतास्त्रयः ॥१०४॥

ज्ञानभूमिस्तराः सप्त तथा दशविधानमून् ।
घृत्वाऽधिकारान सम्पूर्णान पिण्डान दैवांश्च मानवान्॥१०५॥

व्याप्नुवन्ति न सन्देहस्तस्माद्विज्ञानवित्तमाः!।
एतद्दशविधेष्वेवाधिकारेप्वखिला हिताः ॥१०६॥

निम्नानिम्नतरा एवमुच्चैरुच्चतमास्तथा ।
दार्शनिकाधिकारा हि सन्ति सम्मिलिता ध्रुवम् ॥१०७॥

और ऊपर के सात स्तर सप्त ज्योति से ही पूर्ण हैं, नीचे के चार छाया स्तर चतुर्विध भूतसङ्घ के समष्टि चिदाकाश से पूर्ण हैं। उसके ऊपर की तीन अज्ञान भूमियों के स्तर तथा सात ज्ञान भूमियों के स्तर यह दस स्तर दशविध अधिकारो को धारण करके समस्त मानव और दैवपिण्ड में व्याप्त है। इस कारण हे विज्ञान विद्वरो! इन दो अधिकारमें ही निम्न से निम्नतर और उबसे उच्चतम सब हितकर दार्शनिक अधिकार सम्मिलित है यह निश्चय है। ॥१०३-१०७॥

अघन्यघटनायां सा प्रकृतिमे पटीयसी।
मत्तो व्यक्ता महाकाश-गोलकेऽत्र प्रकाशते ॥१०८॥

मेरी वह अघटनघटनापटीयसी प्रकृति मुझसे व्यक्त होकर इस महाकाशगोलक में प्रकाशित है। ॥१०८॥

अदर्ध्वगाः सप्तभूमीवै सा विद्यारूपतोऽनुते ।
अविद्यारूपतो विप्राः ! सप्तभूमीश्च निम्नगाः ॥१०९॥

हे विप्रो ! वहीं विद्यारूप से ऊपर की सप्त भूमिकाओं में और अविद्यारूप से नीचे की सप्त भूमिकाओं में परिव्याप्त है॥१०९॥

सप्तच्छायाभिरेताभिज्योतिर्भिः सप्तभिस्तथा ।
परिपूर्ण महाकाश-गोलकं मे जड़ात्मिका ॥११०॥

बिभर्ति प्रकृतिनित्यं नूनमाधाररूपतः।
अहं तस्योपरिष्ठाच सन्तिष्ठे शुद्धचिन्मयः ॥१११॥

इन सप्त छाया और सप्त ज्योतियों से पूर्ण महाकाश गोलक को अधार रूप से मेरी जडा प्रकृति नित्य ही धारण कर रही है और मैं शुद्ध चिन्मय होकर उसके ऊपर स्थित हूँ॥११०-१११॥

ज्ञानिनः स्याद्धि यस्यादोऽध्यात्मगोलकदर्शनम् ।
मद्दर्शनं ध्रुवं कर्तुं शक्नुयात्सर्वथैव सः ॥११२॥

इस अध्यात्मगोलक का दर्शन जिस ज्ञानवान को ही होता है वह निश्चय ही मेरे दर्शन करने सर्वथा समर्थ होता ॥११२॥

वैदिकैदर्शनैरूक्तं ज्ञानमेवास्ति लोचनम् ।
एतदर्थ न सन्देहः सत्यं सत्यं ब्रवीमि वः ॥११३॥

वैदिक दर्शनोक्त ज्ञान ही इसके लिये नेत्र स्वरूप हैं निःसन्देह मैं सत्य सत्य कहता हूँ॥११३॥

सप्तानां ज्ञानभूमीनामतो दर्शनसप्तके ।
विरोधं येऽनुकल्पन्ते ते भक्ता ज्ञानिनो न मे ॥११४॥

अतः जो सप्त ज्ञान भूमियों के सप्त दर्शनशास्त्रों में विरोध कल्पना करते हैं वे मेरे ज्ञानी भक्त नहीं है ॥११४॥

ज्ञानीभक्ता भवन्तो म भवन्तो मे द्विजोत्तमाः ।
अद्वैतविभक्तञ्च विकाररराहितं तथा ॥११५॥

ज्ञानं प्राप्य परासिद्धेः कृपादृष्ट्यानुतोषिताः।
मत्सायुज्यं समासाद्य लभेरन् कृतकृत्यताम् ॥११६॥

हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! आपलोग मेरे ज्ञानी भक्त होते हुए अविभक्त, विकारहीन और अद्वैत ज्ञान को प्राप्त करके परासिद्धि की कृपादृष्टि से आश्वासित हो मत्सायुज्य को प्राप्त करके कृतकृत्यता को प्राप्त हों ॥११५-११६॥

इति श्रीधीशगीतासूपनिषत् ब्रह्मविधायां योगशास्त्रे धीशार्षिसंवादे
ज्ञानभूमिनिरूपणं नाम तृतीयोऽध्यायः

इस प्रकार श्रीधीशगीतोपनिषद् के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योगशास्त्र का
धीशर्षिसम्वादात्मक ज्ञानभूमिनिरूपण
नामक तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।

॥ श्री हरि ॥

॥ श्री धीश गीता ॥

अथ चतुर्थोऽध्याय : चतुर्थ अध्याय

धर्मविज्ञाननिरूपणम्

ऋषय ऊचुः ॥१॥

ऋषिगण बोले ॥१॥

रहस्यं ज्ञानभूमीनां हे सर्वज्ञ ! महाद्भुतम् ।
तथाऽविभक्तज्ञानस्य शैलीं श्रुत्वा प्रकाशिकाम् ॥२॥

अस्माकं संशयाः सर्वे दूरीभूता न संशयः ।
अस्मानुपदिशैतञ्च कृपां कृत्वाऽधुना प्रभो ! ॥३॥

को नन्वज्ञानभूमीनां प्रभावादूरक्षयन् मुदा ।
मुमुक्षून साधकासीवानयते ज्ञानभूमिकाः ॥४॥

हे सर्वज्ञ ! ज्ञान भूमियों का महान् अद्भुत रहस्य और अविभक्तज्ञान के प्रकाश करने वाली शैलो को सुनकर हमारी सब शंकाएं दूर हो गई हैं इसमें सन्देह नहीं। अब हे प्रभो । कृपा करके हमको यह भी

आज्ञा कीजिये कि अज्ञानभूमियों के प्रभाव से बचाकर मुमुक्षु साधक जीवों को आनन्दपूर्वक ज्ञानभूमियों में कौन पहूँचाता है ? ॥२-४॥

अतीत्याज्ञानभूमीश्च कैरुपायैर्मुमुक्षवः ।
लभन्ते ज्ञानभूमिर्हि साधकाः सत्त्वरं ध्रुवम् ॥५॥

किन उपायों द्वारा मुमुक्षु साधक अज्ञान भूमियों को अतिक्रमण करके शीघ्र ही ज्ञान भूमियों को प्राप्त करते हैं। ॥५॥

क्रमादग्रेसरन्तश्च सप्तमु ज्ञानभूमिषु ।
भवन्तं प्राप्नुवन्त्यन्ते सच्चिदानन्दरूपिणम् ॥६॥

और सातों ज्ञानभूमियों में क्रमशः अग्रसर होते हुए अन्त में सच्चिदानन्द स्वरूप आप को प्राप्त होते हैं ॥६॥

गणपतिरुवाच ॥ ७ ॥

गणपति बोले ॥७॥

ब्राह्मणाः ! नयते नूनं सर्वलोकहितप्रदः।
ब्रहमाण्डपिण्डस्पायाः सृष्टेश्च धारको महान् ॥८॥

मानवान धर्म एवायं कैवल्याभ्युदयप्रदः।
संरक्ष्याज्ञानभूमिभ्यो ज्ञानभूमीनिरन्तरम् ॥९॥

ब्राह्मणो ! सर्व लोक हितकर, ब्रह्माण्ड पिण्डात्मक सृष्टि का धारक और अभ्युदय और मुक्ति विधायक यह महान् धर्म ही मनुष्यों को अज्ञान भूमियों से बचाकर ज्ञान भूमियों में निरन्तर ही पहुंचा देता है। ॥८-९ ॥

ददञ्चभ्युदयं सम्यक सम्प्राप्य्यान्तिमा क्रमात ।
ज्ञानभूर्मि ततो दत्ते निःश्रेयसमहो परम ॥१०॥

और क्रमशः अभ्युदय को सम्यक् प्रदान करता हुआ अन्तिम ज्ञानभूमि में पहुंचाकर अहो ! तदनन्तर कैवल्य प्रदान करता है ॥१०॥

अहमेवास्मि धर्मस्य स्थितिस्थानं द्विजर्षभाः ।
धर्माकृतिर्ममैवास्ते शक्तिरेव सनातनी ॥११॥

विराटसृष्टेः प्रवाहस्य धारणं कृतवत्यहो।
ममेव सात्त्विकी शक्तिर्नूनं धर्म्मो महर्षयः !॥१२॥

मात्र कश्चन सन्देहो विद्यते द्विजसत्तमाः ।
विद्ययते विप्रशार्दूलाः ! शक्ति मे त्रिगुणात्मिका ॥१३॥

हे विप्रो ! धर्म का मैं ही स्थिति स्थान हूँ और धर्मरूपा मेरी ही सनातनी शक्ति अहो ! विराट् सृष्टि के प्रवाह को निश्चय ही धारण किये हुए हैं। हे महर्षिगण! निश्चय मेरी ही सत्त्वगुणमयी शक्ति धर्म है । हे ब्राह्मणश्रेष्ठो ! इस विषय में कोई सन्देह नहीं है हे विप्रपुन्वों! मेरी शक्ति त्रिगुणात्मिका है ॥११-१३॥

आकर्षणविशिष्टा या सा शक्तीराजसी मता ।
विकर्षणेन सम्पृक्ता शक्ति तामसी तथा ॥१४॥

आकर्षणशक्ति विशिष्ठ राजसिक शक्ति कहलाती है और विकर्षण शक्ति विशिष्ट तामसिक कहलाती है ॥१४॥

सामञ्जस्य प्रकुर्वाणा तयोः शत्योद्वयोरिह ।
सात्विकी सैव धम्मोऽस्ति शक्तिमें नात्र संशयः ॥१५॥

और उन दोनों शक्तियों का इस संसार में समन्वय करने वाली मेरी जो सात्विक शक्ति है वही धर्म है इसमें सन्देह नहीं है ॥१५॥

परिव्याप्नोति धर्मस्य शक्तिरेषैव धारिका ।
परमाणुभ्य आ नूनं पूर्णां ब्रह्माण्डविस्तृतिम् ॥१६॥

यही धर्म की धारिका शक्ति परमाणु से लेकर ब्रह्माण्ड के विस्तार पर्यन्तमें परिव्याप्त है ॥१६॥

शक्ते: संधारिकाया मे धर्मस्यैव प्रभावतः ।
सूयेन्द्वादिग्रहाः सर्वे तथा नक्षत्रमण्डलम् ॥१७॥

उपग्रहादयोऽप्येवं विराड्देहे ममानिशम् ।
स्वस्वकक्षामुपाश्रित्य भ्रमन्ते हि समन्ततः ॥१८॥

धर्म की धारिका शक्ति के प्रभाव से ही सब सूर्य चन्द्रा आदि ग्रह उपग्रह आदि और नक्षत्र मण्डल मेरे विराट् देह में चौतरफ अपनी अपनी कक्षा में निरन्तर परिभ्रमण करते है ॥१७-१८॥

सृष्टरक्षाञ्च कुर्वन्ति साहाय्यं ददतो मिवः।
देवासुरेण युद्धेन देव्याः सृष्टेः पवित्रताम् ॥१९॥

सम्पादयन्ती धर्मस्य धारिका शक्तिरुत्तमा।
प्रतिष्ठापयते देवान् स्वस्वलोकेऽसुरांस्तथा ॥२०॥

और परस्पर को सहायता देकर सृष्टि की रक्षा करते हैं। धर्म की उत्तम धारिका शक्ति देवासुर संग्राम के द्वारा दैवी सृष्टि की पवित्रता सम्पादन करती हुई देवताओं और असुरो को अपने अपने लोको में सुप्रतिष्ठित रखती है ॥१९-२०॥

निश्चितं मातृभावेन विज्ञाः ! धर्ममयेण मे।
प्रकृतेः पालिता जीवाः पोपिताश्च निरन्तरम् ॥२१॥

उद्भिजात्स्वेदजं गत्वा स्वेदजादण्डजं तथा ।
ततो गच्छन्त्यदो विप्राः ! अण्डजाञ्च जरायुजम् ॥२२॥

जरायुनाद्योनितो हि मर्त्ययोनि गताः पुनः।
भवन्ति मोक्षमार्गस्य नूनमतेऽधिकारिणः ॥२३॥

हे विज्ञो! मेरी प्रकृति के धर्ममय मातृभाव के द्वारा ही निरन्तर पालित पोषित होकर जीव हे विप्रों ! उद्भिजसे स्वेदज, स्वेदज से अण्डज, अण्डज से जरायुज और जरायुज योनि से मनुष्य योनि में पहुंचकर अवश्य ही वह कैवल्यमार्ग अर्थात् मोक्षमार्ग के अधिकारी धन जाते हैं। ॥२१-२३॥

ज्ञानं हि धर्माधर्मस्य मानवेभ्यो हि केवलम् ।
कृतास्ते मोक्षमार्गस्य पथिका ददता मया ॥२४॥

मैंने केवल मनुष्यों को ही धर्म अधर्म का मान प्रदान करके उनको कैवल्य मार्ग का पथिक "बना दिया है॥२४॥

धारिका शक्तिरेवासौ धर्मस्य विभपुड्वा: ! ।
क्रमादुन्नमयन्ती वै मानवानुत्तरोत्तरम् ॥२५॥

कृत्वाऽधिकारिणो ज्ञानभूमेरन्ते च तानहो ।
कैवल्यपदवी तेभ्यः प्रदत्ते च शनैः शनैः ॥२६॥

हे विप्र श्रेष्ठो! यह धर्म की धारिका शक्ति ही मनुष्यों की क्रमशः उत्तरोत्तर उन्नति कराकर ही और अहो ! अन्त में उनको ज्ञान भूमि का अधिकारी बनाकर शनैः शनैः कैवल्य पद प्रदान करती है। ॥२५-२६॥

सर्वेषां रक्षको धर्मः सर्वजीवहितमदः।
निखिलव्यापकश्चास्ति सव्यभ्योऽभ्युदयमदः ॥२७॥

सर्वेषां मानसे नूनं मत्स्वरूपप्रकाशकः।
साधकानां हि जीवानां शिवत्वस्य विधायकः ॥२८॥

धर्म सर्वव्यापक, सजीव हितकारी सर्व रक्षक सवको अभ्युदयप्रद और सबके हृदय में मेरे स्वरुप का प्रकाश करनेवाला एवं साधक जीवों को शिवत्वप्रदानकारक है ॥२७-२८॥

धर्मोऽयं ब्राह्मणाः ! प्रोक्तः सार्वभौमस्वरूपभाक् ।
साधारणविशेषाभ्यां द्विधा भिन्नो न संशयः ॥२९॥

हे ब्राह्मणों ! सांधारण और विशेष रूप से दो प्रकारका यह सार्वः भौमखरूपी धर्म कह गया है यह निःसन्देह है ॥२९॥

साधारणस्तयोर्धर्मः सर्वजीवहिते रतः।
अधिकारविशेषस्य जीवानां केन्द्रभागिनाम् ॥३०॥

विशेषस्तु विशेषेण हित सम्पादयत्यलम् ।
साधारणस्य धर्मस्य वर्णयेऽङ्गानि साम्प्रतम् ॥३१॥

आकर्ण्यन्तां भवद्भिश्च सावधानेन चेतसा।
चतुर्विंशतितत्त्वानां नूनं सन्त्यनुरूपतः ॥३२॥

अङ्गानि पूर्णधर्मस्य चतुर्विंशतिरेव भोः !।
दानं हि त्रिविध प्रोक्तं विद्यार्थाभयभेदतः ॥३३॥

उनमे से साधारण धर्म सर्वजीव हिततत्पर है और अधिकार विशेष के केन्द्रो से युक्त जीवों का विशेष धर्म निश्चय ही परम हित सम्पादन करता है। मैं इस समय साधारण धर्म के अंगवर्णन करता हूँ आप सावधान चित्त से सुनिए। चौवीस तत्वों के अनुरूप पूर्णावयव साधारण धर्म के निश्चय चौबीस ही अंग हैं। दान त्रिविध कहा गया है, यथा-अर्थदान, विद्यादान और अभयदान ॥३०-३३॥

कायिकं वाचिकञ्चैव तथा मानसमेव च ।
तपोऽपि त्रिविधः प्रोक्तं तपोविद्भिर्महात्मभिः ॥३४॥

तपोवेत्ता महात्माओं ने तप के भी शारीरिक वाचनिक मानसिक रूप से तीन भेद कहे हैं ॥३४॥

षडविधः कर्मयज्ञोऽस्ति नित्यो नैमित्तिकस्तथा ।
काम्योऽध्यात्मोऽधिदेवा षष्ठश्चैवाधिभौतिकः ॥३५॥

कर्मयज्ञ नित्य नैमित्तिक काम्य और अध्यातम अधिदैव अधिभूत रूप से षड्विध है ॥३५॥

उपास्तियज्ञभेद्राश्च विद्यन्ते नवधा दनु ।
ते सर्व भक्तिमूलाः स्युर्योगमूलास्तथैव च ॥३६॥

उपासना यज्ञ के नौ ही भेद है वह सब भक्ति और योगमूलक हैं ॥३६॥

उपास्तेरास्ति योगो हि स्थली देहो न संशयः ।

तस्याश्चैव द्विजा: ! ज्ञेया भक्तिः प्राणस्वरूपिणी ॥३७॥

उपासना का योग स्थूलदेह है यह निस्सन्देह है। हे ब्राहाणो ! भक्ति उसी की ही प्राणरूपिणी है।॥३७॥

मन्त्री हठो लयो राज इनि भेदाचतुर्विधात् ।
चतुर्षापासना वेद्या नूनं योगविचारतः ॥३८॥

योग के विचार से उपासना मन्त्र हठ लय राजन चतुर्विध भेद से निश्चय ही चतुर्विध जाननी चाहिये ॥३८॥

तथा भक्तिमभेदन पञ्चश्रोपासनास्त्यहो।
रागदेषादिसञ्जुष्टा भक्ता मेऽशुचयो द्विजा: ! ॥३९॥

मां सदोपासते मूढा आसुरीप्वेव शक्तिषु ।
सकामाः फलमिच्छन्तः शुभं भक्तगणा मम ॥४०॥

मामेवोपासते शश्वन्नूनं देवीषु शक्तिषु ।
विषयानन्द एवाहो ब्रह्मनन्दानुभावकाः ॥४१॥

स्वभावादेव जायन्ते भक्तवृन्दा ममोन्नताः ।
मल्लीलाविग्रहोपास्ती रतात्मानो न संशयः ॥४२॥

और अहो ! भक्ति के भेद से उपासना पंचविध है। हे ब्राह्मणों ! रागद्वेष युक्त और अशुचि मेरे मूढ़ भक्तगण आसुरी शक्तियों में ही मेरी सदा उपासना करते हैं । शुभ फलेच्छु सकाम भक्तगण मेरी दैवी शक्तियों

में निरन्तर ही मेरी ही उपासना करते हैं। अहो! विषयानन्द में ही ब्रह्मानन्द का अनुभव करने वाले मेरे उन्नत भक्त गण स्वभाव से ही मेरे लीलाविग्रह की उपासना में रतात्मा होते हैं इसमें सन्देह नहीं ॥३९-४२॥

भक्ता में ज्ञानिनो रूपे सगुणे निर्गुणे तथा ।
मामुपास्य निमज्जन्ति परमानन्दसागरे ॥४३॥

और ज्ञानीभक्तगण मेरे सगुणरूप तथा निर्गुणरूप में मेरी उपासना करके परमानन्दसागर में मग्न होते हैं ॥४३॥

श्रवणं मननश्चैव निदिध्यासनमेव च ।
ज्ञानयज्ञस्य भेदाः स्युस्त्रिविधा हि महर्षयः ॥४४॥

हे महर्षिगण! श्रवण मनन और निदिध्यासन रूप से ज्ञानयज्ञ के तीन भेद कहे गये हैं ॥४४॥

चतुर्विंशतिरेतानि धर्मस्य प्राकृतान्यहो।
अङ्गानि सर्वजीवानां साधकानि हितस्य नुः॥४५॥

धर्म के अहो ! ये चतुर्विंशति स्वभावसिद्ध अङ्ग सर्वजीवहितसाधक कहे गये. है ॥४५॥

विभिन्नरुचयो लोका नानाशक्तिमया यतः ।
अतः साधारणो धर्मः सर्वमाणिहितावहः ॥४६॥

क्योंकि लोक में रुचि विभिन्न है और सामर्थ्य भी विभिन्न है इस कारण साधारण धर्म सर्वप्राणिहितप्रद है ॥४६॥

अङ्गैः पूर्णस्य धर्मस्य चतुर्विंशतिसङ्ख्यकैः ।
स्वरूपं चेद्विजानीयुः सर्वलोकहितालयम् ॥४७॥

धर्मजिज्ञासवो नूनमुदारहृदयास्तदा।।
श्रीगुरोः पदवी पूज्यां प्राप्नुयुः सर्वमाणिनाम् ॥४८॥

यदि चौबीस अङ्गो से पूर्ण धर्म के सर्वलोकहितकर स्वरूप को धर्म जिज्ञासु जान जायें तो वह उदार हृदय होकर सब प्राणियों के ही गुरू की पूज्यपदवी को प्राप्त कर लेते हैं। ॥४७-४८॥

यावन्तो धर्ममार्गा वै जनिष्यन्ते युगे युगे।
साधारणस्य धर्मस्य कियन्त्यङ्गान्यमीपुः ते ॥४९॥

गृहीत्वैव प्रयास्यन्ति कृतार्थत्वम संशयम् ।
प्रादुर्भुनाश्च ये लोके धर्ममार्गा द्विजोत्तमाः ॥५०॥

अधुनावधि तेऽप्येवं कृतार्थत्वं गता ध्रुवम् ।
मात्र कश्चन सन्देहो विद्यते विमपुङ्गवाः॥५१॥

युगयुग मे जितने ही धर्म मार्ग पैदा होंगे वे सब साधारण धर्म के इन अंशों मे से कुछ अंशों का आश्रय लेकर ही निःसन्देह कृतकृत्यता को

प्राप्त होंगे। हे ब्राह्मणश्रेष्ठों! अभी तक संसारमें जितने धर्ममार्ग उत्पन्न हुए हैं, वह भी ऐसे ही कृतार्थता को प्राप्त हुए हैं हे विप्रो ! इसमें कुछ सन्देह नहीं है। ॥४९-५१॥

प्रपूर्णत्वं हि धर्मस्य शाश्वतस्येदमेव नु।
एतदेव महत्त्वच पितृभावोऽप्ययं ध्रुवम् ॥५२॥

यही शाश्वत धर्म की निश्चय पूर्णता है; यही महत्त्व है और निश्चय यही पितृभाव है ॥५२॥

अन्यधर्मान्न यो द्वष्टि बाधते वा कदाचन ।
यथायोग्यन्तु सर्वभ्यो द्विविधाऽभ्युदयमदः ॥५३॥

निःश्रेयसस्य चाऽध्वानं यस्तु दर्शयतेऽखिलान् ।
धर्मः सनातनो नूनमियं हयुपनिषन्मता ॥५४॥

जो धर्म अन्यधर्मों से द्वेष न करे अथवा अन्यधर्मों को कभी बाधा न दे और सबको यथाधिकार उभय विध अभ्युदय प्रदान करे और सबको निःश्रेयस का मार्ग बताए वही सनातन धर्म है यही उपनिषद् है ॥ ५३-५४॥

विप्राः ! विशेषधर्मस्य स्वरूपं महदद्भुतम् ।
यथा वार्णाश्रमो धर्म आर्यजाते. शुभावहः ॥५५॥

अनार्यजातिजातानां न तथास्त्युपयोगभाक् ।

अतोऽयं वर्तते धर्म्मो विशेषो नात्र संशयः ॥५६॥

हे विप्रो ! विशेष धर्म का स्वरूप अतिविचित्र है। जैसे आर्य जाति के लिये वर्ण और आश्रम धर्म परमहित कर कहा गया है वैसे अनार्य जातिके लिये वह उपयोगी नहीं है इस कारण यह वर्ण और आश्रम धर्म विशेष धर्म है इसमें सन्देह नहीं ॥५५-५६॥

प्रवृत्तिरोधको नूनं वर्णधों महर्षयः।
निवृत्तेः पोषकश्चास्ति धर्म आश्रमगोचरः ॥५७॥

धर्मावेतावुभावेव सञ्जीव्य शाश्वतीः समाः ।
आर्यजाति सुरक्षेतां साङ्कर्यात पतनात्तथा ॥५८॥

हे महर्षियो ! वर्णधर्म प्रवृत्तिरोधक और आश्रम धर्म निवृत्ति पोषक है । आर्य जाति को यह दोनों धर्म ही चिरकाल पर्यन्त जीवित रखकर संकरता दोष और पतन से बचाते है ॥५७-५८॥

नारीधर्मस्तपोमूलो नृधर्मो यज्ञमूलकः।
एतौ द्वावपि वर्तेते धर्मो विप्राः ! विशेषकौ ॥५९॥

हे ब्राह्मणो ! तपमूलक नारीधर्म और यज्ञ मूलक पुरुषधर्म यह दोनों भी विशेष धर्म हैं ॥५९॥

प्रतिधर्म एकोऽस्ति निवृत्तिधर्म इत्यपि ।
राजधर्मः प्रजाधर्मः शाक्तः शैवश्च वैष्णवः ॥६०॥

सौर्यो धर्मोऽपि भो विप्राः ! आपद्धर्मादयस्तथा ।
एते विशेषधर्मस्य विद्यन्तेऽन्तर्गताः खलु ॥६१॥

प्रवृत्तिधर्म, निधिधर्म, राजधर्म, प्रजाधर्म, शाक्तधर्म शैवधर्म वैष्णवधर्म, सौर्यधर्म, और आपदधर्म आदि, यह सभी हे ब्राह्मणो ! विशेष धर्म के अन्तर्गत ही हैं। ॥६०-६१॥

सर्वप्रधान आद्यश्च वरीयान् व्यापकस्तथा ।
सदाचारो विशेषेषु धर्मेषु विद्यते द्विजाः ! ॥६२॥

हे ब्राह्मणो ! विशेष धर्मों में सबसे प्रधान श्रेष्ठ व्यापक और प्रथम धर्म सदाचार है। ॥६२॥

यतो धर्मानुकूलो यो व्यापारो वपुषोऽखिलः ।
सद्भिः प्रोक्तः सदाचारो नन्वसौ पुण्यवर्द्धनः ॥६३ ॥

क्योंकि धर्माकूल सब शारीरिक व्यापारों को सत्पुरुष. सदाचार कहते हैं यह निश्चय ही पुण्यवर्धक है ॥६३॥

आस्ते विशेष धर्मस्य ह्याधिकारोऽन्तिमो द्विजाः!।
सन्यासाश्रम एवासौ नात्र कार्या विचारणा ॥६४॥

विशेष धर्म का अन्तिम अधिकार ही हे ब्राह्मणो यह सन्न्यास है यह निश्चित है। ॥६४॥

सन्यासो न भवेद्विज्ञाः । कर्मत्यागेन केवलम् ।
किन्तु सन्याससंसिद्धिर्वासनात्यागतो भवेत् ॥६५॥

अतो विशेषधर्मास्याधिकारस्यातिविस्तृतेः ।
वैचित्र्याच परात्स्यूलस्वांगसञ्चालनामिकाम् ॥६६॥

सदाचारमी स्थूलस्थलामारभ्य सतक्रियाम् ।
सूक्ष्ममूक्ष्मतमब्रह्मसदभावप्राप्तिकारणम् ॥६७॥

परिव्याप्य च सन्यासं सम्बन्धस्तस्य विद्यते ।
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यते ब्राह्मणोत्तमाः ! ॥६८॥

हे विज्ञवरो! केवल धर्म के त्याग से सन्यास नहीं होता किन्तु वासना के त्याग से ही सन्यास की सिद्धि होती है इस कारण विशेष धर्म का अधिकार अति विचित्र और अति विस्तृत होने से अपने स्थूल अंग के संचालन रूपी सदाचार मय स्थलातिस्थूल सत् क्रिया से लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्मसभाव के प्राप्ति के कारणरूपी सन्यास तक से उसका सम्बन्ध है । हे ब्राह्मणश्रेष्ठो! इसमें कोई सन्देह नहीं ॥६५-६८॥

वर्णाश्रमादिधर्माणां विशेषाणां द्विजोत्तमाः!।
पालनेनैव मे भक्ताः क्रमशोऽज्ञानभूमितः ॥६९॥

निवृत्य ज्ञानभूमीनां जायन्ते पथिका ध्रुवम् ।
साधारणस्य धर्मस्य साधकाः क्रमशो वरम् ॥७०॥

सार्वभौम स्वरूपं वै सर्वजीवहितप्रदम् ।
सर्वशक्तिमयं दिव्यं व्यापकं मोक्षसाधकम् ॥७१॥

प्राणिनोऽनुभवन्त्यत्र यावदेव द्विजोत्तमाः!।
ज्ञानस्य तावती भूमिमारोहन्ति समुन्नताम ॥७२॥

हे विप्रो ! वर्णाश्रम आदि विशेष धर्मों के पालन द्वारा ही मेरे भक्त क्रमशः अज्ञान भूमियों से बचकर ज्ञानभूमि के ही पथिक बनते हैं और हे द्विज श्रेष्ठों क्रमशः साधारण धर्म के सार्वभौम सर्वजीवहितकारी मोक्षसाधक और सर्वशक्तिमय श्रेष्ठ व्यापक दिव्य स्वरूप को साधक जीवधारी यहां जितना ही अनुभव करते जाते हैं वे उतनी ही उन्नत से उन्नततर ज्ञानभूमि में आरोहण करते जाते हैं। ॥६९-७२॥

श्रेष्ठं वेदान्तसिद्धान्तानुभवं प्राप्य सत्वरम् ।
मत्सायुज्यं लभन्तेऽन्ते ततो यान्ति कृतार्थताम् ॥७३॥

अन्त में वेदान्त सिद्धान्त के श्रेष्ठ अनुभव को शीघ्र प्राप्त करके मत्सायुज्य को प्राप्त करते हैं और इसके बाद कृतार्थ हो जाते हैं। ॥७३ ॥

इति श्रीधीशगीतासूपनिपत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे धीशर्षि संवादे
धर्मविज्ञाननिरूपणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ।

इस प्रकार श्रीधीशगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी धीशर्षि संवादात्मक योगशास्त्रका धर्मविज्ञान निरूपण नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ।

॥ श्री हरि ॥

॥श्री धीश गीता॥

अथ पंचमोऽध्याय : पांचवां अध्याय

वेदान्त निरूपणम्

ऋषय ऊचुः ॥१॥

ऋषिगण बोले ॥१॥

जगद्गुरो ! आदिगुरो ! पूज्य ! वेदान्तकृद्विभो ।
भवद्दयोदयादेव प्राप्तवन्तो वयं श्रुतीः ॥२॥

हे जगद्गुरो ! हे आदिगुरो हे वेदान्तकृत् ! हे पूज्य ! हे विभो! हे देव ! आप की कृपा के उदय से ही हम लोगों ने वेदों को प्राप्त किया था ॥२॥

देवापारकृपासिन्धोश्चलद्वीचेस्तटाश्रयात् ।
श्रुतवन्तो रहस्यानि त्वत्तोऽनेकानि साम्प्रतम् ॥३॥

और इस समय आपके चलत्तरङ्ग अपार कृपारूपी समुद्र के तटाश्रय से हमलोगों ने आपसे वेद के अनेक रहस्य सुने हैं। ॥३॥

तत्कृतार्थीभवन्तोऽध तदेव प्रार्थयामहे ।
ज्ञानरत्नाधिवेदेषु यद्वेदान्तं प्रचक्षते ॥४॥

जिससे कृतकृत्यता को प्राप्त करते हुए आज यही प्रार्थना करते हैं कि ज्ञानरत्न के समुद्र वेदों में जिसको वेदान्त कहा है ॥४ ॥

तस्य सर्वोत्तम तत्त्वज्ञानमस्मानुपादिश।
वयं येन परां शान्तिमाप्नुयामः सुनिश्चितम् ॥५॥

उसी सर्वोत्तम तत्वज्ञान का हमको उपदेश दें जिससे हम निश्चित रूपसे परमशान्ति प्राप्त करें ॥५॥

गणपतिरुवाच ॥६॥

गणपति बोले ॥६॥

सर्वोपनिषदां सारः पीयूष वेदवारिधः ।
विज्ञाः ! वेदान्तयोगोऽयमिदानी वर्ण्यते मया ॥७॥

मननाच्छ्रणाद्यस्य निदिध्यासनतस्तथा ।
त्रितापतो विनिर्मुक्तास्तत्त्वज्ञानाब्धिपारगाः ॥८॥

क्षमन्तेऽव्ययमात्मानं साक्षात्कर्तुं मुमुक्षवः ।
नात्र कश्चन सन्देहः कर्तव्यो विप्रपुङ्गवाः! ॥९॥

हे विज्ञ वरों ! मैं तुमसे सब उपनिपदों के साररूप और वेद समद्र के अमृतरूप इस वेदान्तयोग का वर्णन करता है जिसके श्रवण मनन

और निदिध्यासन द्वारा मुमुक्ष ज्ञानसमुद्र को पार करके त्रिताप से मुक्त होते हुए अव्यय आत्मा का साक्षात्कार करने में समर्थ होते हैं है विप्रश्रेष्ठो ! इसमें कोई सन्देह नहीं करना चाहिये ॥७-९॥

स्वभावजस्य प्रकृतेः कर्मणः सहजस्य मे।
पाशसङ्गादविद्याया अनाथायाः प्रभावतः ॥१०॥

आविर्भवति जीवत्वं चिज्जड़ग्रन्धिरूपकम् ।
अविद्येयमनाद्याऽस्ति जीवभावप्रकाशिनी ॥११॥

मेरी प्रकृति के स्वभाव से उत्पन्न सहज कर्म के जाल में फंसने से और अनादि अविद्या के प्रभाव से जीव का चिजडग्रन्थि रूप जीवत्व प्रकट होता है। यह जीवभाव प्रकाशिनी अविद्या अनादि ॥१०-११॥

त्रिगुणात्ममकृत्याश्च लौल्यात्स्वाभाविकावुधाः !!
नूनं कर्मप्रवाहोऽयमनादिर्विद्यते खलु ॥१२॥

हे विज्ञों ! त्रिगुणमयी प्रकृति के स्वाभाविक चाञ्चल्य हेतु यह कर्मप्रवाह भी अनादि है ॥१२॥

यतोऽस्ति सहजं कर्म कथितं पाशसन्निभम् ।
मत्प्रकृत्याः स्वभावेन सहजातं न संशयः ॥१३॥

क्योंकि "सहज कर्म पाश सदृश और मेरी प्रकृति के स्वभाव के साथ उत्पन्न कहा गया है इसमें सन्देह नहीं ॥ १३ ॥

भूतभावोद्भवकराद्विसर्गात्सहजादलम् ।
चतुर्धा भूतसयोऽयं जायते कर्मणः स्वतः ॥१४॥

भूतभावोदभवकर विसर्गरूपी सहज कर्म के द्वारा इस चतुर्विधभूत संघ की उत्पत्ति स्वतः ही होती है ॥१४॥

अनायाया अविद्यायाः प्रभात्रेण महर्षयः ।
जायते चिजड़ग्रन्धिहोऽज्ञानमयो हि यः ॥१५॥

जीवभावः स एवास्ति संसारावर्तपातकः ।
अविद्योपहित विप्राः ! चैतन्य प्रकृतेर्मम ॥१६ ॥

सत्सत्तायाः प्रभावेण व्यप्ट्यहङ्कारघूर्णितम् ।
द्वैतस्योन्द्रोधकं विज्ञाः ! जीवभावं प्रपद्यते ॥१७॥

हे महर्षि गण ! अविद्या के प्रभावसे जो दृढ अज्ञानमयी चिजडग्रन्थि उत्पन्न होती है वही संसार रूपी भंवर में डालने वाला जीवभाव है। हे विज्ञ विप्रो! अविद्योपहित चैतन्य मेरी प्रकृति की सत्सताके प्रभाव से व्यष्टि अहङ्कार के चक्र में पड़कर द्वैतभाव-उद्योधक जीवत्व को प्राप्त करता है॥ १५-१७॥

पुनर्मे ज्ञानिनो भत्ता विद्यासाहाय्यतो द्विजाः!।
प्राप्य नित्यस्थितं मोक्षं विलीयन्ते ध्रुवं मयि ॥ १८ ॥

पुनः हे ब्राह्मणो ! मेरा ज्ञानी भक्त विद्या की सहायता प्राप्त कर नित्य स्थित कैवल्यपद को प्राप्त करता हुआ मुझ में ही मिल जाता है॥१८॥

अविद्याया दृढ जालं कर्मबन्धनञ्च दुर्द्दगम् ।
मम विप्रा: प्रभावेण मद्भक्ता अतियन्सहो ॥१९॥

हे ब्राह्मणो! मेरे भक्त अविद्या के दृढ़ जाल को और दुर्दम कर्म के बन्धन को अहो ! मेरे प्रभाव से अतिक्रमण कर लेते हैं ॥१९॥

यतस्त्रवैगुण्यमय्यास्ते प्रकृतिर्मम तामतः।
स्वभावेनोपतिष्ठन्ते रज:सत्वतमोगुणाः ॥२०॥

क्योंकि मेरी प्रकृति त्रिगुणमयी है अंतः सत्त्व रज तम ये तीनों गुण उसमें स्वभाव से रहते हैं ॥२०॥

उत्पत्ति रजसा विप्राः ! स्थिति सत्त्वेन सन्ततम् ।
तमोगुणेन संहारं करोति प्रकृति: स्वतः ॥२१॥

हे ब्राह्मणो ! प्रकृति रजोगुण से उत्पत्ति सत्त्वगुण से निरन्तर स्थिति और तमोगुण से लय अर्थात् संहार स्वभाव से करती रहती है ॥२१॥

अस्मिन् स्वभावसिद्धेऽपि प्रकृतेर्मे गुणत्रये ।
उभावेव प्रधानौ स्तस्तमःसत्त्वाभिधानको ॥२२॥

मेरी प्रकृति के यह तीनों गुण स्वभाव सिद्ध होने पर भी तम और सत्व यह दो गुण ही प्रधान हैं ॥२२॥

प्रवृत्तिपरकत्वेन सृष्टिकारितया तथा ।
रजस्तु केवलं ज्ञेयं तम:सत्त्वसहायकम् ॥२३॥

रजोगुण प्रवृत्ति पर और सृष्टि कारी होने से वह तो तमोगुण और सत्त्वगुण का केवल सहायक है। ॥२३॥

अतस्तमोमयी विप्राः ! यदास्ते प्रकृतिर्मम ।
विद्याविद्यामभेदज्ञैरविद्या सोच्यते तदा ॥२४॥

इसी कारण से हे ब्राह्मणो ! मेरी प्रकृति जब तमोमयी रहती है तब उसको विद्या और अविद्याके भेद को जानने वाले अविद्या कहते हैं ॥२४॥

प्रकृतिर्मे यदा त्वेषा शुद्धा सत्वमयी भवेत् ।
नाम्ना विद्या तदा लोके तत्त्वज्ञैरभिधीयते ॥२५॥

और जब वह शुद्ध सत्वमयी रहती है तब संसार में तत्त्वज्ञानी उसको विद्या कहते हैं ॥२५॥

परिणामो भवेत् सत्त्वे तमसो नात्र संशयः।
सत्त्वस्यापि भवेन्नूनं परिणामस्तमस्यहो ॥२६॥

अहो ! सत्य मे तमका परिणाम और तममें भी सत्त्व का परिणाम अवश्य होता है इसमें सन्देह नहीं है ॥२६॥

रजोगुणो यतो नूनं साहाय्यं कुरुते द्वयोः ।
स्वभावात्मकृतिर्मेऽस्ति यतश्च परिणामिनी ॥२७॥

क्योंकि रजोगुण ही उभय सहायक है, और मेरी प्रकृति स्वभाव से परिणामशीला है ॥२७॥

अतः स्वभावसिद्धोऽयं परिणामो मिथस्तयौ: ।
महर्षयः ! न चैवायं सिद्धान्तो विस्मयावहः ॥२८॥

हे महर्षि गण ! इन दोनों गुणों का आपस में यह परिणाम स्वभावसिद्ध है इस कारण यह सिद्धान्त आश्चर्यकारक नहीं ही है ॥२८॥

स्वतः पूर्ण यदा सत्वपरिणामस्तमोगुणे।
जायते चिज्जडग्रंथिस्तत्रैवोत्पद्य प्रस्फुटम् ॥२९॥

प्रकाशभावमापनः परमाणौ जडात्मके ।
उत्पादयति जीवत्वं साक्षात्मामाण्यवोधकम् ॥३०॥

जब पूर्ण तमोगुण में स्वभाव से सत्त्वपरिणाम उत्पन्न होता है वहीं चिजड़ग्रन्थि उत्पन्न होकर सुस्पष्ट प्रकाशभाव को प्राप्त होती हुई जड परमाणु मे प्रत्यक्ष प्रामाण्यबोधक जीवत्व उत्पन्न करती है ॥२९-३०॥

सा चैतन्यमयी सत्ता चिजडग्रन्थिरूपिणी ।
क्रमाद्विकाशमापन्नाद्विज्जयोनौ महर्षयः !॥३१॥

भाष्य स्वेदज योनि तामाण्डजी योनिमाश्रिता ।
एत्य जारायुर्जी योनि मर्त्ययोनि प्रपद्यते ॥ ३२॥

तत्र सत्त्वपूर्णत्वाश्रयेण प्रकृतेर्मम ।
कृपां विद्यास्वरूपायाः प्राप्ता स्वं रूपमश्नुते ॥३३॥

हे महर्षि गण ! उद्भिज्जयोनि में वह चिजड़ग्रन्थि रूपिणी चेतनसत्ता क्रमविकाश को प्राप्त करती हुई स्वेदजयोनि में पहुंचती है स्वेदजयोनि से अण्डज योनि में पहुंचती है, अण्डजयोनि से जरायुज योनि में पहुंचती है और जरायुज योनि से मनुष्य योनि में पहुंचती है और वहां सत्त्वगुण की पूर्णता के आश्रय से मेरी विद्या रूपिणी प्रकृति को कृपा प्राप्त होकर स्वस्वरूप को प्राप्त हो जाती है ॥३१-३३॥

एतद्वो वर्णितं विज्ञाः ! रहस्यं गूढ़मदभुतम् ।
उत्पत्तेरपि मोक्षस्य जीवानां नु महर्षयः ! ॥३४॥

हे विज्ञ महर्षियो! यह जीवों की उत्पत्ति और मुक्ति का अद्भुत और गूढ़ रहस्य मैंने आपलोगों से वर्णन किया ॥३४॥

वर्तते गुप्तमेतद्धि सर्वासूषनिषत्स्वपि ।
न प्राप्तुं कोऽपि शक्नोति श्रीगुरोः कृपया बिना ॥३५॥

यह सब उपनिषदों में भी गुप्त ही है,श्रीगुरु की कृपा विना कोई भी इसको प्राप्त नहीं कर सकता ॥३५॥

अघट्यघटनाया या प्रकृति में पटीयसी ।
मास्त्यविद्यास्वरूपेण जीवबन्धनकारिणी ॥३६॥

पुनः सत्वमयी सैव विद्यारूपस्य धारिणी ।
ददाति जीववर्गेभ्यः कैवल्यपदमुत्तमम ॥३७॥

अघटनघटनापटीयसी मेरी प्रकृति अविद्यारूप से जीव का बन्धन करती है और पुनः वही सत्त्वमयि बनकर विद्यारूप धारण करके जीवों को उत्तम कैवल्यपद प्रदान करती है ॥३६-३७॥

नोपासतेऽथ ये जीवा विद्यां स्वाधीनतां गताः ।
ते जीवा निश्चितं विप्राः ! अविद्याच्छन्नमानसाः ॥३८॥

त्रैगुण्यपरिणामस्य चक्रेऽस्मिन्छाश्वतीः समाः ।
तापत्रयं सुमुञ्जाना नितरां प्रभ्रमन्त्यहो ॥३९॥

और जो जीव स्वाधीनता को प्राप्त करके विद्या की उपासना नहीं करते हैं हे ब्राह्मणो ! विद्या से आच्छन्न चित्त वह जीव निश्चय इस त्रिगुण परिणाम के चक्र मे अनन्तकाल पर्यन्त त्रिताप को भोग करते हुए अहो ! निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं ॥३८-३९॥

विशिष्टेर्लक्षणः सत्ताऽनुभूति ब्रह्मजीवयोः ।
मायामपञ्चरूपायाः सृष्टेश्चैव द्विजर्षभाः ! ॥४०॥

रहस्यं वर्णयाम्येतत् सावधानैर्निशम्यताम् ।

येन सम्यग्भरेज्ज्ञानं भवतां ब्रह्मजीवयोः ॥४१॥

हे द्विजवरो विशेष लक्षणद्वारा जीव और ब्रह्म की सत्ता का अनुभव और मायाप्रपञ्च रूपी सृष्टि का रहस्य आपसे मैं वर्णन करता है सावधान होकर सुनो जिससे आपलोगों को ब्रह्म और जीव का सम्यक् ज्ञान होगा ॥४०-४१॥

कारणस्थूलसूक्ष्मेभ्यः शरीरेभ्यो बहिर्गतम् ।
अतीतं पञ्चकोशेभ्यो ह्यावस्थात्रयसाक्षिकम् ॥४२॥

चतुर्विंशतितत्त्वानां यदाधारस्वरूपकम् ।
द्वाभ्यां प्रतीयमानाभ्यां मायाऽविद्यास्वरूपिणा ॥४३॥

उपाधिनेशजीवाभ्यां भिन्नं यच्च महर्षयः !।
सचिदानन्दरूपं तद्ब्रह्म सम्प्रोच्यते बुधैः ॥४४॥

हे महर्षिगण ! स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से जो पृथक् हैं, पञ्चकोषों से जो अतीत हैं, तीनों अवस्थाओं के जो साक्षीरूप है । चतुर्विंशति तत्त्वों के जो आधार हैं और अविद्या तथा मायारूप उपधियों के द्वारा प्रतीयमान जो जीव और ईश्वर इन दोनों से जो भिन्न हैं वही सच्चिदानन्दस्वरूपवान् ब्रह्म हैं ऐसा बुधगण कहते हैं। ॥४२-४४॥

एतानि लक्षणानीह वर्णयामि यथाक्रमम् ।
साम्मप्राप्तं सावधानैश्च श्रूयन्तां तत्त्ववदिनः ! ॥४५॥

हे तत्त्वज्ञानियो ! अब मैं यहां इन सब लक्षणों का यथाक्रम वर्णन करता हूं सावधान होकर सुनो ॥४५॥

पञ्चभिर्यन्महाभूतैः कृतं पञ्चीकृतैननु ।
सुखदुःखदिभोगानां स्थानं विप्राश्च कर्मजम् ॥४६॥

जायते बर्द्धतेऽस्त्येवं क्षीयते परिणम्यते ।
विनश्यतीति षड्भावविकारैश्च समन्वितम् ॥४७॥

स्थूलं हि तच्छरीरं स्यात्सर्वथा क्षणभङ्गुरम् ।
लक्षणं स्थूलकायस्य वित्तैतद्विशदं द्विजाः ! ॥४८॥

हे विप्रो ! पञ्चीकृत पञ्च महाभूतो से बना हुआ, कर्मों से उत्पन्न और सुखदुःख आदि भोगों का जो स्थान है अर्थात् जिसके द्वारा सुखदुःखादि भोग होते हैं एवं वर्तमान है, उत्पन्न होता है, बढ़ता है, परिणाम को प्राप्त होता है, क्षय होता है और नाश होता है, इन छः भाव विकारो से जो युक्त है, वह सर्वथा क्षणभर स्थूलशरीर है ,हे ब्राह्मणो! इसको स्थूल शरीर का स्पष्ट लक्षण जानो ॥४६-४८॥

यदपञ्चीकृतैः पञ्चमहाभूतैः कृतं किल ।
कर्मजं सुखदुःखादिभोगसाधनरूपकम् ॥४९॥

पञ्चज्ञानेन्द्रियैर्विप्राः ! पञ्चकम्र्मेन्द्रियस्तथा ।
पञ्चप्राणैस्तथैकेन मनसा बुद्धिसंजुषा ॥५०॥

यत्सप्तदशभिश्चैवं कलाभिः सह तिष्ठति ।

तद्धि सूक्ष्मं शरीरं स्यात्सूक्ष्मतत्त्वविनिर्मितम् ॥५१॥

हे विप्रो ! अपञ्चीकृत पञ्च महाभूतो से ही बना हुआ, कर्मों से उत्पन्न और सुखदुःखादि भोगों का जो साधनरूप है एवं पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच वायु,एक मन, एक बुद्धि, इस प्रकार सत्रह कलाओं से युक्त होकर जो स्थित है वह सूक्ष्म तत्वो से बना हुआ सूक्ष्म शरीर है ॥४९-५१॥

विज्ञाः ! यदस्त्यनिर्वाच्याऽनाद्यविद्यास्वरूपकम् ।
कारणं हयेकमात्रञ्च स्थूलसूक्ष्मशरीरयोः ॥५२॥

स्वस्वरूपाज्ञानरूपं निर्विकल्पकरूपकम् ।
तत्कारणशरीरं स्याज्जीवत्वप्रतिपादकम् ॥५३॥

हे विज्ञो ! अनिर्वचनीया अनादि अंविद्या रूप, स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का एक मात्र ही कारण, अपने स्वरूप का अज्ञानस्वरूप एवं निर्विकल्प रूप जो है वही जीवत्वप्रतिपादक कारण शरीर है ॥ ५२-५३॥

जीवानादिप्रवाहस्य जीवसृष्टेः पृथक् पृथक् ।
या प्रारम्भक्षणे विमाः ! चिज्जड़ग्रन्थिबान्धनी ॥५४॥

जायते प्रथमावस्था तच्छरीरं हि कारणम् ।
संस्कारः मूक्ष्मदेहस्याऽनुक्षणं परिवर्त्तते ॥५५॥

म्रियन्तेऽतो ध्रुवं जीवैः स्वसंस्कारानुसारतः।
नानाविचित्रतोपेताः स्थूलदेहाः पृथक् पृथक् ॥५६॥

अनादि जीव प्रवाह की अलग अलग जीव सृष्टि के प्रारम्भ में जड़ और चेतन की ग्रंथि बांधनेवाली जो प्रथम दशा पैदा होती है वही जीव का कारण शरीर है । सूक्ष्म शरीर के संस्कारों में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है और इसी कारण जीवों को अपने अपने संस्कारों के अनुसार अलग अलग अनेक विचित्रतामय स्थूल शरीर अवश्य धारण करने पड़ते हैं ॥५४-५६ ॥

परन्त्वनयविद्यैकमालिका सर्वथा द्विजाः।
या शरीरद्वयस्यापि मूलकारणरूपिणी ॥५७॥

दशा विकारहीनाऽस्ति चिदात्मावरणक्षमा ।
तत्कारणशरीरम्बा ब्रुवन्ति तद्विदो जनाः ॥५८॥

परन्तु हे विप्रो ! सर्वथा अनादि अविद्या मूलिका और दो शरीरो की मूलकारणरूपा एवं चिदात्मा को ढकनेवाली और विकारहीन जो दशा है विद्वान्लोग उसको कारणशरीर कहते हैं ॥५७-५८॥

विप्राः ! अनमयः प्राणमय एवं मनोमयः।
द्वौ विज्ञानमयानन्दमयौ कोशौ तथैव च ॥५९॥

कोशपञ्चकमेवैतदात्मावरणकारकम् ।
विद्यते नितरां विज्ञाः ! नात्र कोप्यस्ति संशयः ॥६०॥

हे विज्ञविप्रो ! आत्मा को अत्यन्त आ वरण करनेवाले अनमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय ये ही पांच कोष है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥५९-६०॥

आच्छादन तथा त्वक् च विप्राः ! आवरणादयः ।
कोशशब्देन गृह्यन्ते ये चान्ये वा तदर्थकाः ॥६१॥

हे विप्रो ! कोश शब्द से आच्छादन छिलका आवरण आदि और तदर्थक अन्य शब्द भी समझने चाहिये। ॥६१॥

एकामुपर्युपर्येका पलाण्डुत्वग्यथा भवेत् ।
पञ्च कोशास्तथा ज्ञेया जीवदेहेषु निश्चितम् ॥६२॥

जैसे प्याज मे एकक ऊपर दूसरा छिलका रहता है उसी प्रकार जीवशरीरों में पाँच कोश , समझने ही उचित है। ॥६२॥

स्यादानन्दमयः कोशः प्रथमं तदनन्तरम् ।
विज्ञानमयनामास्ति तत्परश्च मनोमयः ॥६३॥

ततः प्राणमयः कोशो वर्तते विप्रपुङ्गवाः ।
सर्वोपर्यस्ति कोशस्तु नूनमन्नमयाभिधः ॥६४॥

हे विप्रवरो! प्रथम आनन्दमय कोश होता है, उसके ऊपर विज्ञानमय कोश होता है, उसके ऊपर मनोमय कोश होता है, उसके ऊपर प्राणमय कोश होता है और इन सभी के ऊपर ही अन्नमय कोश होता है। ॥६३-६४॥

जायतेऽन्नरसादेव यस्तेनैवाभिवर्द्धते ।
यश्चाऽन्नरसमां हि क्षिसामन्ते विलीयते ॥६५॥

एषोऽस्त्यन्नमयः कोषः स्थूलदेहापराभिधः ।
लक्षणं सूक्ष्मदेहस्य श्रूयत्तां मुनिपुङ्गवाः ! ॥६६॥

अन्न के रस से ही उत्पन्न होकर, अन्न के रस से ही उन्नति (वृद्धि) को प्राप्त होकर और अन्न की रसरूपा पृथिवी में ही जो अन्त में लय को प्राप्त होता है वह अन्नमय कोश है, इसीको स्थूलशरीर कहते है । हे मुनिवरो ! सूक्ष्मदेह का लक्षण सुनिये ॥६५-६६॥

स्यान्मनःप्राणविज्ञानमयैः कोशैर्महर्षयः ।
सूक्ष्मं शरीरं वै विप्रा इत्याहुर्वेदपारगाः ॥३७॥

हे महर्षिगण ! प्राणमय कोश, मनोमय कोश और विज्ञानमय कोशो का ही सूक्ष्म शरीर होता है ऐसा वेदपारगामी ब्राह्मणगण कहते हैं ॥६७॥

मिलिताः पञ्च प्राणाश्च पञ्चकर्म्मेन्द्रियैः सह ।
ध्रुवं प्राणमयः कोश इत्याख्यामाप्नुवन्त्यहो ॥६८॥

प्राणादि पाँच वायु कर्मेन्द्रियों के साथ मिल कर ही अहो ! प्राणमय कोष इस नाम को प्राप्त होते हैं ॥६८॥

एकमेव मनः पञ्चज्ञानेन्द्रियसमन्वितम् ।
नाम्ना मनोमयः कोशो नूनमाख्यायते बुधैः ॥६९॥

एक ही मन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से मिलकर ही मनोमय कोश नाम से विद्वानों के द्वारा कहा जाता है ॥६९॥

एकैव मिलिता बुद्धिः पञ्चज्ञानेन्द्रियैः सह ।
विज्ञानमयकोशाख्यां भजते नात्र संशयः ॥७०॥

एक ही वुद्धि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर विज्ञानमय कोश नाम को धारण करती है इसमें सन्देह नहीं है। ॥७०॥

कारणाख्यवपुर्भूताऽविद्यायां नन्ववस्थितम ।
सत्वं मालिन्यसन्जुष्टं स्वरूपाज्ञानमेव हि ॥७१॥

प्रियमोदप्रमौदैर्वे भावैरेभिर्युतञ्च सत् ।
आनन्दमयनामाऽसौ कोशः सम्पोच्यते बुधैः ॥७२॥

हे ब्राह्मणो! कारण शरीर भूता अविद्या में ही स्थित, मलिन सत्व, आत्मस्वरूप का ही अज्ञान रूप और प्रिय भोद और प्रमोद इन भावों से ही युक्त आनन्दमय कोश विद्वानों के द्वारा कहा जाता है ॥७१-७२॥

चतुर्विंशतितत्वानां यतोऽस्त्येतद्धि कारणम् ।
अतस्तदेव सम्प्रोक्तं शरीरं कारणाभिधम् ॥७३॥

और वही कारण शरीर कहा गया है क्योंकि वही चौबीस तत्वोंका कारण है। ॥७३॥

एभिश्च पञ्चभिः कोषैः सम्बद्धमधुना मया ।
श्रूयतां मोच्यमानं तदवस्थात्रयलक्षणम् ॥७४॥

अव इन पांचों कोषों से सम्वन्धयुक्त तीन अवस्थाओं का लक्षण मैं वर्णन करता हूँ सुनो ॥७४॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयाख्यमवस्थात्रयमस्त्यहो।
पञ्चज्ञानेन्द्रियैर्यत्र श्रोत्रमभृतिभिर्द्विजाः ! ॥७५॥

शब्दादिविषयाः सम्यज्ज्ञायन्ते जाग्रदस्ति सा।
स्थूलदेहाभिमान्यात्मा विश्व इत्युच्यते बुधैः ॥७६॥

जाग्रतवस्था, स्वप्नावस्था और सुषुप्ति अवस्था नामक अहो ! यह तीन अवस्था हैं हे ब्राह्मणो श्रोत्रादि पञ्चज्ञानेन्द्रियों से शब्दादि विषय जहाँ भलीभांति जाने जाते हैं वह जाग्रत अवस्था है। विद्वानोंके द्वारा स्थूल शरीर का अभिमानी आत्मा विश्व कहा जाता है। ॥७५-७६॥

यत्र जाग्रदवस्थायां यच दृष्टं श्रुतञ्च यत् ।
तजन्यैर्वासनापुञ्जै प्रपञ्चः सम्प्रतीयते ॥७७॥

स्वप्नावस्थाऽस्ति सा जाग्रत्सुषुप्तयन्तरवर्तिनी।
सूक्ष्मदेहाभिमान्यात्मा प्रोच्यते तैजसाभिवः ॥७८॥

जाग्रवस्था में जो देखने में और सुनने में आता है उससे उत्पन्न वासनासमूह के द्वारा जिस अवस्था में प्रपञ्च प्रतीत होता है जाग्रत् और सुषुप्ति के मध्यवर्तिनी वह अवस्था स्वप्नावस्था है। सूक्ष्मशरीर का अभिमानी आत्मा तेजस कहलाता है ॥७७-७८॥

न मया किमपि ज्ञातं सुखं निद्राऽन्वभावि च।
इति जाग्रदवस्थायामनुभूतिस्मृतिर्हि या ॥७९॥

सा सुपुप्तयभिधावस्था कीर्त्यते तत्त्वकोविदैः ।
आत्मा कारणदेहस्याभिमानी प्राज्ञ उच्यते ॥८०॥

मैं कुछ भी नहीं जानता था, सुखपूर्वक मैंने निद्रा ली इस प्रकार का अनुभव जाग्रत अवस्था में जो याद दिलाता है उसको तत्वज्ञानी सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। कारण शरीर का आभमानी आत्मा प्राण कहलाता है ॥७९-८०॥

समाष्टः स्थूलदेहानां विराणनाम्नाऽभिधीयते।
अतः स्थूलशरीरस्याधिदेवो विश्वनामकः ॥८१॥

समष्टि स्थूल शरीर को ही विराट् कहते हैं इस कारण स्थूलशरीर के देवता विश्व कहाते हैं। ॥ ८१॥

सूक्ष्मराज्यस्थदीवानां सूक्ष्मदेहावलम्बिनाम।
तेजोमयं शरीरं स्यादयतो नूनं महर्षयः !॥८२॥

सूक्ष्मदेहाभिमान्यति देवोऽतस्तैजसाभियः ।
सूक्ष्मायनोऽतिमुक्ष्मवै शरीरं कारणं ततः ॥८३॥

देवः कारणदेशस्याभिमानी प्राज्ञ उच्यते ।
चतुर्विंशवितत्वानि वर्णयामि निशम्यताम ॥८४॥

हे महर्षिगण ! सूक्ष्मराज्य के सूक्ष्म-शरीर-विशिष्ट देवताओं का शरीर तेजोमय ही होता है इस कारण सूक्ष्म शरीर के अभिमानी देवता तेजस हैं। कारणशरीर सूक्ष्माति सूक्ष्म ही है इस कारण उसके अभिमानी देवता प्राज्ञ कहलाते है । चौवीस तत्वों का वर्णन करता हूँ सुनो। ॥८२-८४॥

नवनानि नैके न वर्णयन्नि महर्षयः ।
मतान्नराणां सर्व्वेषा सिद्धान्ते न न भिन्नता ॥८५॥

हे महर्पिगण ! इन चौबीस तत्त्वों को कोई किसी प्रकारसे वर्णन करता है, कोई किसी अन्य प्रकार से; परन्तु ये सभी मतान्तर मूल सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं हैं ॥८५॥

श्रोत्रत्व्चौ नधा चक्षरसना घ्राणमेव च ।
पञ्चज्ञानेन्द्रियाण्याहुर्विज्ञा वेदान्तपारगाः ॥८६॥

श्रोत्र त्वक चक्षु 'रसना और घ्राण, इनको वेदान्तपारगामी विज्ञगण पाँच ज्ञानेन्द्रिय कहते है ॥८६॥

वाक्पाणिपादपायूपस्थास्यानि द्विजसत्तमाः !।
पञ्चकर्म्मान्द्रियाण्याहुस्तत्त्वान्वेषणतत्पराः ॥८७॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठो ! वाक् पाणि पाद पायु और उपस्थ, इनको तस्यान्वेषिगण पञ्च कर्मेन्द्रिय कहते हैं ॥८७॥

प्राणापानौ समानश्चोदानव्यानौ तथैव च ।
प्राणाः पञ्च समान्याताः प्राणतत्त्वानुचिन्तकः ॥८८॥

प्राण अपान समान उदान और व्यान इनको प्राणतत्त्वानुचिन्तक पञ्च प्राण कहते हैं ॥८८॥

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले।
उदानः कण्ठदेशे स्यादव्यानः सर्वशरीरगः ॥८९॥

शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धस्तथैव च ।
तन्मात्राण्यपि पञ्चैव ध्रुवते तद्विदो जनाः ॥९०॥

प्राण वायु हृदय में रहता है। अपान वायु गुदा में स्थत है। समान वायु नाभि में है। उदान वायु कण्ठ में अवस्थित है और व्यान वायु सर्व शरीर में रहा करता है ज्ञानीगण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन को पाँच तन्मात्रा करते हैं ॥८९-९०॥

मनो बुद्धिस्तथा चित्तमहङ्कारस्तथैव च ।

अन्तःकरणभेदाः स्युश्चत्वारो नात्र संशयः ॥९१॥

मन बुद्धि चित्त और अहंकार रूप से अन्तःकरण के चारभेद हैं इसमें सन्देह नहीं है ॥९१॥

चतुर्विंशतितत्त्वानि सन्त्येतान्येत्र सत्तमाः ।
पञ्चविंशतमं तत्त्वमहमेवास्म्यसंशयम् ॥९२॥

विप्राः ! पुरुषरूपेण नैव कार्योऽत्र विस्मयः ।
तत्त्वातीतं परं तत्त्वं तत्त्वज्ञा मां ब्रुवन्यतः ॥९३॥

हे सज्जनों यह ही चौवीस तत्त्व हैं। हे ब्राह्मणो! निःसन्देह मैं ही पुरुष रूप से पञ्चविंशतितम तत्व हूँ इस कारण तत्वज्ञानी गण मुझे तत्त्वातीत परमतत्व कहते हैं इसमें विस्मय न करो ॥९२-९३॥

विषया इन्द्रियाणाञ्च वर्ण्यन्तेऽतः परं मया।
समाहितैर्भवद्भिस्ते श्रूयन्तां विमपुङ्गवाः ! ॥९४॥

अब इन्द्रियों के विषयों का वर्णन करता हूँ हे विप्रवरो! आपलोग समाहित होकर उनको सुनें ॥९४॥

श्रोत्रस्य विषयः शब्दस्त्वचः स्पर्शस्तथैव च।
चक्षुषो रूपमेवास्ति रसनाया रसस्तथा ॥९५॥

घ्राणस्य विषयों गन्धो विद्यते नात्र संशयः।
वचनं स्यादाविषय: पाण्योरादानमेव च ॥९६॥

गमनं पादयोः पायोर्मलोत्सर्गश्च विद्यते ।
मूत्रत्याग उपस्थस्य विषयोऽस्ति महर्षयः ! ॥९७॥

श्रोत्रेन्द्रियं का विषय शब्द है, त्वगिन्द्रिय का विषय स्पर्श है, चक्षरिन्द्रिय का विषय रूप ही है, रसनेन्द्रिय का विषय रस है और घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध इसमें सन्देह नहीं है । वागिन्द्रिय का विषय वक्तव्य है. पाणीन्द्रियका विषय वस्तु ग्रहण है. पादेन्द्रियका विषय गन्तव्य है, गुदेन्द्रियका विषय मलत्याग है और है महर्षि गण ! उपस्थेन्द्रिय का विषय मूत्र - त्याग है ॥९५-९७॥

गृहध्मेकं रहस्य वो ब्रह्मणा: ! वर्णयाम्यहम् ।
यदिन्द्रियदयस्याथ श्रूयतां तत्यमाहितैः ॥९८॥

हे ब्राह्मणो ! मैं दो इन्द्रियों का एक गुह्य रहस्य आपलोगों से कहता हूँ, समाहित होकर सुनो॥९८॥

जिव्हायां वाग्रसादानैवच्छक्तिद्रययोगतः ।
अत्यंतमेव जिह्वाऽसौ प्रबला विद्यते खलु ॥९९॥

जिह्वा में रसग्रहण और वाक् शक्ति दोनों होने से वह अत्यन्त ही प्रबल है ॥९६॥

शिश्नयोन्योस्तथैवास्ते नृनारीचिह्नयोरपि ।
मुत्रत्यागत्मकः कर्मेन्द्रियस्य विषयो ननु ॥१००॥

अत्यंतप्रबलंस्पर्शसुख ज्ञानेन्द्रियस्य च ।
तयोः प्रावल्यमेवानः प्रसिद्ध सर्वथास्सलम ॥१०१॥

उसी प्रकार पुरुष चिन्ह और स्त्रीचिह्न रूपी उपस्थ और योनि में भी मूत्रत्यागरूपी कम्र्मेन्द्रिय का कार्य और अतिप्रबल स्पर्श सुखरूपी ज्ञानेन्द्रि यका कार्य रहनेसे उनकी प्रबलता भी सर्वथा प्रसिद्ध है ॥१००-१०१॥

संकल्पों निश्चयो नूनं स्मरणं गर्व एव च ।
नन्यन्तःकरणस्यैते विषयाः स्युर्यथाक्रमम ॥१०२॥

अन्तःकरण चतुष्टय (चारों अन्तःकरणके) संकल्प करना, निश्चय करना, स्मरण करना और अहङ्कार करना यथाक्रम ये चार विषय हैं ॥१०२॥

कथ्यन्ते साम्प्रतं विज्ञाः ! देवास्तत्वाभिमानिनः ।
निशम्यन्तां भवद्भिश्च दत्तचित्तैर्महर्षयः । ॥१०३॥

हे विज्ञमहर्षियो अब तत्वों के अभिमान को धारण करनेवाले अधिपति कहे जाते हैं अत: आप सभी को दत्तचित्त होकर सुनना चाहिए ॥१०३॥

दिग्वातार्कप्रचतोऽश्विवन्हीन्द्रोपेन्द्रमृत्सवः।
शिवश्चन्द्रश्चतुर्वको रुद्रः क्षेत्रज्ञ ईश्वराः ॥ १०४ ॥

दिक्,वायु, अर्क, प्रचेता, अश्वि, बह्नि, इन्द्र, उपेन्द्र मृत्यु, शिव, चन्द्र, ब्रह्मा, रुद्र, और क्षेत्रज्ञ यह सभी अधिपति है ॥ १०४॥

श्रोत्रस्य हि दिशो देवास्त्वचो वायुर्न संशयः ।
सूर्योऽस्ति चक्षुषो देवो वरुणी रसनाधिपः ॥१०५॥

श्रोत्रेन्द्रिय की देवता दिशाएँ हैं, त्वगिन्द्रिय की देवता वायु ही है, चक्षुरिन्द्रिय की देवता सूर्य है, रसनेन्द्रिय की देवता वरुण है ॥१०५॥

घ्राणस्याप्यश्विनौ देवौ वह्निर्वाचो न संशयः।
इन्द्रः पाणीन्द्रियस्यास्ति ह्युपेन्द्रः पादयोस्तथा ॥१०६॥

घ्राणेन्द्रिय की देवता दोनों अश्विनी कुमार है वागिन्द्रिय की देवता अग्नि ही है, पाणीन्द्रिय की देवता ,इन्द्र है, पादेन्द्रियकी देवता उपेन्द्र है. ॥१०६॥

मृत्युर्गुदन्द्रियस्गास्त उपस्थस्य शिवस्तथा।
रसना-योन्युपस्थेषु द्विधा शक्तिरवस्थिता ॥१०७॥

तेषाम्प्रत्येमेवातो द्वौ देवो भवतो ध्रुवम् ।
वरुणाग्निद्वयस्यास्ति रसना पीठरूपिणी ॥१०८॥

गुदेन्द्रिय की देवता मृत्यु है, उपस्थेन्द्रिय की देवता शिव है। रसना और उपस्थादिक में: द्विविध शक्ति निहित रहनेसे उनके प्रत्येक के

ही दो दो देवताः ही है। रसना वरुण और अग्निकी पीठ रूपिणी है॥॥ १०७-१०८॥

प्रजापतिस्तथा वायुः शिवश्चैवं महर्षयः ।
पीठस्थानं त्रिदेवानामुक्तानां योनिशिश्नयोः ॥ १०९॥

अस्तस्य सृष्टिकार्येषु लिङ्गयोन्योः प्रधानता।
नात्र कश्चन सन्देहः कर्तव्यो विप्रपुङ्गवाः ! ॥११०॥

हे महर्षियो ! उपस्थ और योनि में शिव, वायु और प्रजापति की पीठ विद्यमान है इसी कारण सृष्टि कार्य में लिङ्ग और योनि की प्रधानता है, हे विप्रवरो! इसमें कुछ सन्देह नहीं करना चाहिए ॥१०९-११०॥

चन्द्रमा मनसो देवो बुद्धश्च चतुराननः।
चित्तस्य देवः क्षेत्रज्ञो रुद्रश्चाहलंकृतेध्रुवम् ॥१११॥

मन का देवता चन्द्रमा, बुद्धि का देवता चतुर्वक्र, अहंकार का देवता मद्र और चित्त का देवता क्षेत्रज्ञ है ॥१११॥

विज्ञाः ! उपनिपज्ज्ञानमन्तःकरणगोचरम् ।
किश्चिद्रो वर्णयाम्यत्र दत्तचित्तैनिशम्यताम् ॥११२॥

हे विज्ञों ! यहां मैं अन्तःकरण के विषय में कुछ उपनिषद का ज्ञान आपसे कहता हूँ, दत्तचित्त होकर सुनो ॥१२॥

मनो बुदिरहहकारश्चतुर्थं चित्तमेव च ।
एतचतुष्टयं ज्ञेयमन्तःकरणसंज्ञकम् ॥११३॥

मन, बुद्धि, अहंकार और चतुर्थ चित्त इन चारों को अन्तःकरण समझना चाहिये ॥११३॥

एतच्चतुष्टयस्यैव ब्रह्मैव केवलं किल ।
विद्यतेऽधिपतिर्देव एक एव न संशयः ॥११४॥

अतोऽसा गीयते लोके सर्वथा चतुराननः ।
अत्रापि कारणं वित्त बुद्धः प्राधान्यमेव ह ॥११५॥

केवल , ब्रह्मा ही इस अन्त:करण चतुष्टय के ही अधिदेव हैं और इसी कारण वह संसारमें चतुर्वक् कहे ही जाते हैं। यहां चारों में बुद्धि का प्राधान्य ही कारण जानो ॥११४-११५॥

माययोपहितं ब्रह्म विज्ञैरीश्वर उच्यते ।
अविद्योपाहितं ब्रह्म जीवः सम्प्रोच्यते तथा ॥११६॥

मायारूप उपाधि से युक्त ब्रह्म को विज्ञजन ईश्वर कहते हैं और अविद्यारूप उपाधि से युक्त ब्रह्म जीव कहा जाता है ॥११६॥

अविद्यामाययोर्विप्राः ! वेदे वर्णितयोः सदा ।
व्योमपातालबदेभ्द एतयोः संप्रतीयते ॥ ११७॥

हे ब्राह्मणो ! वेदों में वर्णित इन अविद्या और माया में आकाश पाताल के समान सदा भेद प्रतीत होता है ॥११७॥

विज्ञानञ्चात्र वो वच्मि पार्थक्यानुगतं तयोः ।
अविद्या हि सदा जीवान्निनायत्तान् प्रकुर्वती ॥११८॥

बद्धा वहाऽऽसजायते स्वस्यां महामाया परन्त्वहो ।
विद्यास्वरूपिणी भृत्वा सर्वेदेश्वरसात्सती ॥११९॥

तमेव सेवयाना च जगत्सृष्टिलयस्थितीः ।
आस्ते सा विदधानाऽतः पार्थक्यं विपुलं तयोः ॥१२०॥

उन दोनों का पार्थक्य सम्बन्धी विज्ञान यहां आपलोगों से कहता हूँ। अविद्या जीवों को सदा अपने अधीन करती हुई अपने में उनको बांधकर फंसा लेती है किन्तु, अहो महामाया विद्या स्वरूपिणी होकर सर्वदा ईश्वर के अधीन रहती हुई और उनकी ही सेवा करती हुई जगत् के सृष्टि स्थिति लय करती रहती है इसलिये इन दोनों में बड़ा अन्तर है ॥११८-१२०॥

शरीरं मे च मे प्राणा मनो मे धीश्च मेऽस्ति मे ।
ज्ञानमित्य प्रतीयन्ते पञ्च कोशाः पृथक् पृथक् ॥१२१॥

मेरो शरीर है, मेरे प्राण हैं, मेरा मन है, मेरी बुद्धि है और मेरा ज्ञान है इस प्रकार से पृथक् पृथक पाँचों कोशों की प्रतीति होती है ॥१२६॥

यथा स्वत्वेन विज्ञातमलङ्कारगृहादिकम् ।
स्वस्माद्भिन्नं बरीवत्ति पञ्च कोशास्तथा द्विजाः ! ॥१२२॥

मदीयत्वेन विज्ञाता नैवात्मा स्यात् कदाचन ।
किन्त्वात्मा पञ्चकोपाणां ज्ञातैव भवति ध्रुवमः ॥१२३॥

हे विप्रो! जैसे "हमारे" हैं इस प्रकार जाने हुए अलङ्कार और घर आदि अपने से भिन्न होते हैं वैसे ही पञ्चकोश, हमारे हैं इस प्रकार जानने के कारण आत्मा कभी नहीं हो सकते हैं अर्थात् पञ्चकोश आत्मा नहीं हैं किन्तु पञ्चकोषों के जाननेपाले निश्चय ही आत्मा है ॥ १२२-१२३॥

कारणस्थूलसूक्ष्माणि शरीराण्येवमेव च ।
जाग्रत्स्वप्नमुपुप्त्याख्यमवस्थात्रयमेव हि ॥१२४॥

चतुर्विंशतितत्त्वानि पूर्वमुक्तानि यानि वै ।
जीवेश्वरौ द्विजाः ! एते आत्मा नैव कदाचन ॥१२५॥

इसी रीति से ही हे विप्रो ! स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और कारणशरीर, जाग्रतवस्था स्वप्नावस्था, सुषुप्ति अवस्था, यह तीनों अवस्थाएँ, पूर्वोक्त चौबीस तत्त्व, जीव और ईश्वर, यह कभी आत्मा नहीं ही होता हैं ॥१२४-१२५ ॥

तत्वज्ञानाश्रयादित्य नेति नति विचारतः।
सर्वेस्थूलं त्जन्तोऽलं सूक्ष्मान्वेषणतत्पराः ॥१२६॥

भवेयुश्चेन्निरासक्तास्तत्वातीतं पदं गताः।
तदा मां सर्वदा तत्र भवन्तो द्रष्टुमीशते ॥१२७॥

इस प्रकार तत्वज्ञान की सहायता से यदि आपलोग नेति नेति विचारद्वारा सब स्थूल को छोड़ते हुए सूक्ष्म के अन्वेषण में तत्पर होकर निरालक्त होंगे तो सर्वदा तत्वातीत पद में स्थित होकर वहां मेरे दर्शन को प्राप्त कर सकोगे ॥१२६-१२७॥

अतीतः सर्वतत्त्वेभ्यः तथैव पञ्चकोषतः ।
सचिदानन्दरूपोऽहमिति जानीत निश्चितम् ॥१२८॥

मैं पञ्चकोषों से परे और सभी तत्वों से अतीत सचिदानन्द स्वरूप हूँ यह निश्चय करके जानना चाहिए ॥१२८॥

इति श्रीधीशगीतामपनिपत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे धीशर्षिसम्वादे वेदान्तनिरूपणं नाम पञ्चमोऽध्यायः।

इस प्रकार श्री धीशगीतोपनिषद में ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योगशास्त्रका धीशर्षि सम्वादात्मक वेदान्तनिरूपण नाम का पञ्चम अध्याय समाप्त हुआ।

॥ श्री हरि ॥

॥ श्री धीश गीता ॥

अथ षष्ठोऽध्याय : छठा अध्याय

वेदान्तसिद्धान्तनिरुणम्

श्रीगणपतिरुवाच ॥१॥

गणपति बोले ॥ १॥

मत्मकृत्यैव जातस्य ब्रह्मणः कार्यरूपिणः।
स्वरूपं वर्णितं विप्राः ! भवद्भिश्च श्रुतं खलु ॥२॥

हे ब्राह्मणो ! मेरी प्रकृति से ही उत्पन्न कार्यब्रह्म का स्वरूप मैंने वर्णन किया है और आपलोगो ने सुना भी है ॥२॥

चतुर्विंशतितत्तैर्हि पिण्डब्रह्माण्डरूपकम् ।
दृश्यमानं जगज्जातं सर्वमेतचराचरम् ॥३॥

चौबीस तत्वों से ही ब्रहामंड पिण्डात्मक यह सब चराचर जगत्समूह दृश्यमान है ॥३॥

पञ्चकोषाश्च पिण्डानि व्याप्नुवन्तो महर्षयः !।
आवृण्वन्तोऽवतिष्ठन्ते मत्स्वरूपं न संशयः ॥४॥

और हे महर्षिगण ! पञ्चकोष सब पिण्डो में व्याप्त होकर मेरे स्वरूप को निसन्देह ढके हुए हैं ॥४॥

तत्त्वज्ञैः सर्वपिण्डेषु पञ्चकोशसमन्वयम् ।
ज्ञात्वा सर्वत्र मच्छतेस्त्वेकत्वमनुभूयते ॥५॥

परन्तु तत्वज्ञानी पिण्डों में पञ्चकोष का समन्वय जानकर सब स्थानो में मेरी शक्ति की महतता अनुभव करते हैं।॥५॥

ममैव प्रकृतिविज्ञाः ! मायानाम्नाऽभिधीयते ।
नूनं जैगुण्यमय्येषा भवन्ती परिणामिनी ॥६॥

कुर्वत्यास्ते सदा विमाः ! दृश्यसृष्टिलयस्थिती।
सृष्टिकाले भवेत्तस्या आकाशः प्रकृतस्ततः ॥७॥

आकाशाद्वायुरप्येवं वायोरग्निर्न संशयः ।
अग्नेर्जलं जलात्पृथ्वी जायते ब्राह्मणोत्तमाः! ॥८॥

हे विज्ञो ! मेरी प्रकृति ही मायानाम से अभिहित होती है। हे विप्रों ! यही त्रिगुणा त्मिका प्रकृति सदा परिणामिनी होती हुई दृश्य का सृष्टि स्थिति लय करती रहती है। हे विप्रवरो ! सृष्टि करते समय उस प्रकृति से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी उत्पन्न होती है इसमें सन्देह नहीं है॥ ६-८॥

एतेषां पञ्चतत्त्वानामाकाशस्य भवेत्पुनः ।

सात्त्विकादंशतो नूनमिन्द्रियं श्रोत्रनामकम् ॥९॥

और इन पांच तत्त्वों में से आकाश के ही सात्त्विक अंश से श्रोत्रेन्द्रिय उत्पन्न होता है ॥९॥

वायोस्त्वक् सात्त्विकादंशादग्नेश्चक्षुर्भवेत्ततः ।
जलस्य सात्त्विकादशाद्सना जायते ध्रुवम् ॥१०॥

वायु के सात्विक अंशसे त्वगिन्द्रिय, अग्निके सात्त्विक अंशसे चक्षुरिन्द्रिय, जलके सात्विक अंशसे रसनेन्द्रिय निःसन्देह उत्पन्न होता है ॥१०॥

पृथिव्याः सात्त्विकादंशाघ्राणमुत्पद्यते द्विजाः।
एतेषां पञ्चतत्त्वानां समष्टेः सात्त्विकांशतः ॥११॥

मनो बुद्धिरहङ्कारस्तथा चित्तं भवन्त्यहो ।
द्विजोत्तमाः ! मनः कर्तृ स्यात्सङ्कल्पविकल्पयोः ॥१२॥

अहङ्कारोऽस्सहकर्ता बुद्धिनिश्चयकारिणी।
चित्तं स्मर्तृ च सर्चेपां संस्काराणां यतः खनिः ॥ १३ ॥

हे ब्राह्मणो! पृथिवी के सात्विक अंश से घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न होता है। अहो! इन पाँचों तत्त्वों के समष्टि (मिले हुए) सात्विक अंश से मन, बुद्धि, चित्त औरअहङ्कार उत्पन्न होते हैं। हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! संकल्प विकल्प करनेवाला मन है, अहङ्कार करनेवाला अहंकार है, निश्चय

करनेवाली बुद्धि है, स्मरण करनेवाला चित्त है क्योंकि यह सब संस्कारों का आकर है। ॥११-१३॥

एतेषु पञ्चतत्त्वेषु हयाकाशस्य रजोऽशतः।
वागिन्द्रियं समुत्पन्न वायोः पाणीन्द्रियं तथा ॥१४॥

अग्नेराजसिकादंशाजायते पाद इन्द्रियम् ।
जलस्य राजसादशात् स्यादुपस्थेन्द्रियं तथा ॥१५॥

गुदेन्द्रियं पृथिव्यास्तु राजसांशात् जायते ।
एतेषां पञ्चतत्त्वानां समष्टे राजसांशतः ॥१६॥

प्राणादयो भवन्येते वायवः पञ्चसङ्ख्यकाः।
कृकरो नागकूर्मो च देवदत्तधनञ्जयौ ॥१७॥

उपवायव एते हि तेष्वेवान्तर्भवन्त्यहो।
एतेषा पञ्चतत्त्वानां तामसांशसमष्टितः ॥१८॥

पञ्चीकृतानि जायन्ते महाभूतानि पञ्च च ।
स्थूलाक्ष्यगाचरं विप्राः ! सूक्ष्मराज्यं सदा भवेत् ॥१९॥

इन्ही पाँचों तत्वो मे से आकाश के राजस अंश से वागिन्द्रिय, वायु के राजस अंश से पाणीन्द्रिय,बह्रि के राजस अंश से पादेन्द्रिय, जल के राजस अंश से उपस्थेन्द्रिय और पृथिवी के राजस अंश से गुदेन्द्रिय उत्पन्न होते हैं । इन पञ्चतत्त्वों के समष्टि (मिले हुए.) राजस अंश से प्राणादि पाँच वायु उत्पन्न होते हैं। अहो! उपवायु, नाग कूर्म कूकर

देवदंत और धनञ्जय भी उक्त पाँच वायुओ के अन्तर्गत ही हैं। इन पाँचों तत्त्वों के समष्टि तामस अंश से पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते है। हे ब्राह्मणो ! सूक्ष्मारज्य स्थूल इन्द्रियों से सदा अगोचर है ॥१४-१६॥

स्थूलं विश्व महाभूतैर्जातं पञ्चीकृतैर्यतः ।
सूक्ष्मै पञ्चमहाभूतैः कथं पञ्चीकृतान्यहो ॥२०॥

पञ्च स्थूलानि जायन्ते महाभूतानि भूसुराः।
तत्प्रकारं प्रवक्ष्येऽहं श्रृणुध्वं सुसमाहिताः ॥२१॥

क्योंकि स्थूल जगत् पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत से उत्पन्न है। हे ब्राह्मणो ! सूक्ष्म पञ्च महाभूतों से पञ्चीकृत स्थूल पञ्च महाभूत कैसे उत्पन्न होते हैं उसका प्रकार मैं कहता हूं समाहित होकर सुनो। ॥२०-२१॥

एतत्पञ्चमहाभूततामसांशस्वरूपकम् ।
एकमेकं द्विधा भूतं विभज्यैकैकमर्द्धकम् ॥२२॥

अवस्थाप्यापरं विज्ञाः ! चतुर्धाऽपरमर्द्धकम् ।
विभज्यैवं पृथक्त्वेन स्थापितार्द्धषु निश्चितम् ॥२३॥

विभागेषु विभक्तस्य चतुर्धा विप्रपुङ्गवाः ।
एकैकस्य च भूना मकस्यैकं किलैककम ॥२४॥

अंशं कृत्वाऽथ संयुक्तं स्यात्पञ्चीकरणं ध्रुवम् ।
पञ्चीकरणनामायं विधिरत्यन्तमदभुतः ॥२५॥

हे विज्ञब्राह्मणोत्तमो ! इन पाँचौं महाभूतोंके तामसांश स्वरूप एक एक भूत के दो दो भाग करके और एक एक भाग को पृथक् रखकर दूसरे दूसरे भाग के चार चार भाग करके पृथक् रक्खे हुए भागों में एक एक भाग प्रत्येक भू तका संयुक्त करनेसे निश्चय पञ्चीकरण होता है । यह पञ्चीकरण विधि अत्यन्त अद्‌भुत है ॥ २२-२५ ॥

स्वार्ध्दै प्रसेकभूतस्यापरेपां मिश्रितो भवेत् ।
भूतानामर्द्धभागस्य चतुर्थींशो न संशयः ॥२६॥

प्रत्येक भूतके अपने आधे में प्रत्येक दूसरे भूतो के आधे भाग का चतुर्थांश मिला हुआ रहता है इसमें सन्देह नहीं ॥२६॥

यथा पञ्चीकृताकाशे नस्याऽपञ्चीकृतस्य नु।
अर्द्धमस्सपरेपाश्च भूतानां हे महर्षयः ! ॥२७॥

नन्वपञ्चीकृतानाम्दै अष्टमांशो न संशयः।
एवमन्येषु भूतेषु बोद्धव्यं मिश्रणं ध्रुवम् ॥२८॥

हे महर्षियो ! जैसे पञ्चीकृत आकाश में अंपञ्चीकृत आकाश का आधा भाग और दूसरे प्रत्येक अपञ्चीकृतभूतो के अर्द्ध भाग का चतुर्थांश अर्थात् अपर प्रत्येक भूतो का अष्टमांश मिला हुआ है इसमें सन्देह नहीं, इसी प्रकार प्रत्येक भूत में मिश्रण जानना चाहिये ॥२७-२८॥

एतैः पञ्चीकृतैः पञ्चमहाभूतैर्हि जायते ।
ब्रह्माण्डं सततं स्थूलं प्रसेकं नात्र संशयः ॥२९॥

इन पञ्चीकृत पञ्च महाभूतो से ही प्रत्येक स्थूल ब्रह्माण्ड निरन्तर
उत्पन्न होता है इसमें सन्देह नहीं ॥२९॥

ब्रह्माण्डमापि प्रत्येकमधश्चोर्द्धे विभज्यते ।
तचतुर्दशलोकेषु नानाश्चर्यमयेष्वहो ॥३०॥

प्रत्येक ब्रह्माण्ड भी उद्धर्वधोरूप से अनेकों आश्चर्यमय चतुर्दश भुवनों में विभक्त है ॥३०॥

ब्रह्माण्डे तत्र प्रसेकमुद्भिजस्वेदजाण्डजाः।
जरायुजाश्च जायन्ते चतुर्धा स्थूलदेहकाः ॥३१॥

उन प्रत्येक ब्रह्माण्डो मे उद्भिज स्वेदज अण्डज और जरायुज, यह चार प्रकार के स्थूल शरीर उत्पन्न होते हैं ॥ ३१॥

दैव्यास्तव्यतिरिक्तं वै सृष्टवैचित्र्यमुत्तमम्।
किमप्यपूर्वमेतेभ्यो विद्यते विप्रपुङ्गवाः ! ॥३२॥

हे विप्र श्रेष्ठो! इनके अतिरिक्त दैवी सृष्टि की उत्तम विचित्रता इनसे कुछ विलक्षण ही है ॥३२॥

जीवास्तत्तच्छरीराणामभिमानिन आसते ।
ईश्वरोऽनन्तब्रह्माण्डाभिमानी विद्यते खलु ॥३३॥

शरीरों का अभिमान रखनेवाले जीव और अनन्त ब्रह्माण्डों के अभिमान रखनेवाले ही ईश्वर है ॥३३॥

ब्रह्माण्डपिण्डयोरैक्यमेवं जातं महर्षयः।
नैवात्र विस्मयः कार्यो भवद्भिर्विमपुङ्गवाः ! ॥३४॥

हे महर्षिगण ! इस प्रकार से पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता प्रतिपन्न हुई, हे विप्रवरो! आपलोगों को इसमें विस्मय नहीं करना चाहिए ॥३४॥

ईश्वरस्य च जीवस्य भेदो ब्रह्मणि कल्प्यते ।
मायाऽविद्यात्मकान्नूनं क्रमादावरणादद्विजाः ॥३५॥

हे ब्राह्मणो ब्रह्म में ही अविद्या और मायारूप आवरण के द्वारा जीव और ईश्वर का भेद कल्पना किया गया है।॥३५॥

ब्रह्मणः प्रतिविम्ब हि जीवो देहाभिमानकः ।
स्वस्मात्वभावतो भिन्न ईश्वरस्तेन मन्यते ॥३६॥

शरीरका अभिमान रखनेवाला जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, यह जीव स्वभाव से ही ईश्वर को अपने से भिन्न समझता है ॥३६॥

ईश्वरस्य च जीवस्य भेदो यावदुपाधितः ।
तिष्टेत तावत्क्षणं विप्राः ! कथञ्चिच्च कदाचन ॥३७॥

जन्ममृत्युप्रवाहोऽसौ संसारो न निवर्त्तते।
ईश्वरे चैव जीवे च भेदबुद्धिः कदाप्यतः ॥३८॥

न कर्तव्या द्विजश्रेष्ठाः ! तत्त्वरात्मवेदिभिः ।
मङ्गलं जायते तेषामतो नूनं महर्षयः ! ॥३९॥

हे विप्रो ! उपाधि के भेदसे जीव और ईश्वर में भेददृष्टि जब तक रहती है तब तक जन्ममरण प्रवाहरूप यह संसार कभी और किसी प्रकार निवृत्त नहीं होता है इस कारण से हे द्विजश्रेष्ठों ! जीव और ईश्वर में भेददृष्टि तत्त्वज्ञ आत्म ज्ञानियों को कदापि नहीं करनी चाहिये । हे महर्षियों! इससे उनका अवश्य मंगल होता है। ॥३७-३९॥

साहंकारस्य जीवस्य किचिज्ज्ञस्य हि कोविदाः ।
सर्वज्ञनेश्वरेणाहो निरहङ्कारिणा सह ॥४०॥

तत्त्वमस्यादिभिर्वाक्यरेतयोन्निधर्मयोः।
कथं त्वभेदबुद्धिः स्याच्छङ्क्यते चेन्निशम्यताम् ॥४१॥

हे विंज्ञों ! अहंकार वान् और अल्पज्ञ जीव को निराकार और सर्वज्ञ ईश्वर के साथ "तत्वमसि" आदि महावाक्यों के द्वारा, अहो! इन दोनों विरुद्धधमियों में अभेदबुद्धि कैसे हो सकती है। यदि ऐसी शङ्का करते हो तो सुनो॥४०-४१॥

अर्थद्वयं द्विजश्रेष्ठाः ! स्यात्तत्त्वपदयोर्द्धोः।
वाच्यार्थश्चैव भो विज्ञाः ! लक्ष्यार्थश्च न संशयः ॥४२॥

हे विज्ञ विप्रवरो! तत् और त्वं इन दोनों पदों के वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ रूप दो दो अर्थ होते हैं इसमें सन्देह नहीं ॥४२॥

अविद्यावांश्च तत्कार्यकर्तृत्वादिगुणयुतः ।

जीवो देहाभिमानीति वाच्याऽर्थस्त्वम्पदस्य दि ॥४३॥

अविद्या, उसका काव्य और कर्तुत्वादि गुणवाला और शरीर का अभिमानी जीव यही त्वंपद का वाच्यार्थ है ॥४३॥

अविद्योपाधिनिर्मुक्तं समावेश्च दशां गतम् ।
अविद्यया च नत्काय रहित प्रतिभान्विताः ॥४४॥

चिन्मात्रं शुद्धचतन्यं लक्ष्यार्थस्त्वम्पदस्य वै।
वाच्यार्थश्चैव लक्ष्यार्थस्तत्पदस्यापि कथ्यते ॥४५॥

हे प्रतिभाशालियो ! अविद्यारूप उपाधि से निर्मुक्त, समाधि दशा प्राप्त, अविद्या और उसके कार्य से रहित, चिन्मान और शुद्ध चैतन्य ही त्वंपद का लक्ष्यार्थ है। अब तत्पद का भी वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ कहता हूँ॥ ४४-४५॥

मायातत्कार्य्यासर्वज्ञभावादिगुणसंयुतः।
ईश्वरस्तत्पदस्यास्ति वाच्यार्थो नात्र संशयः ॥४६॥

माया और उसका कार्य एवं सर्वज्ञत्व आदि गुणोंवाला ईश्वर तत्पद का वाच्य अर्थ है इसमें सन्देह नहीं है। ॥४६॥

मायातकार्यतः शून्यं मायोषाधिविजितम् ।
चिन्मात्रं शुद्धचैतन्य लक्ष्यार्थस्तत्पदस्य वै ॥४७॥

मायारूप उपाधि से शुन्य शुद्ध चैतन्य, माया और उसके कार्य से रहित और चिन्मात्र ही तत्पद का लक्ष्य अर्थ है॥४७॥

ईश्वरस्य च जीवस्य शुद्धचैतन्यरूपतः ।
अभेदे वाधकामावः स्यादेवं ब्राह्मणोत्तमाः ! ॥४८॥

हे विप्रश्रेष्ठो! इस प्रकार से जीव और ईश्वर में चैतन्यरूप से अभेद होने में कोई बाधक नहीं है ॥४५॥

'अहं ब्रह्मास्मि' चेत्यादिमहावाक्यैरापि द्विजाः!
विज्ञायते तयोरैक्यमुभयोर्नात्र संशयः ॥४९॥

हे विप्रों ! उन दोनों की एकता 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इत्यादि महावाक्यों से भी जानी जाती है इसमें सन्देह नहीं ॥४९॥

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव केवलम् ।
इति शास्त्रोपदेशेन श्रीगुरोरुपदेशतः ॥५०॥

स्वानुभृत्याऽथवा विज्ञाः ! ये विदन्ति सुसाधकाः।
यपाञ्च प्राणिमात्रेषु सर्वेषु ब्राह्मणोत्तमाः ! ॥५१॥

ब्रह्मबुद्धिः समुत्पन्ना ज्ञानयोगेन सर्वथा ।
त एव ज्ञानिनो भक्ता जीवन्मुक्ता भवन्ति मे ॥५२॥

हे विज्ञ विप्रवरो ! जो सुसाधक ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव केवल ब्रह्म ही है ऐसा शास्त्रोपदेश से श्रीगुरूपदेश से और अपने अनुभव से जानते हैं एवं जिनकी सब प्राणिमात्रों पर ज्ञानयोग से सर्वथा ब्रह्मबुद्धि उत्पन्न हुई है वही मेरे ज्ञानी भक्त जीवन्मुक्त हैं। ॥५०-५२॥

एतद्वेदान्तसिद्धान्ततात्पर्य हि निशम्यताम् ।
अविद्योपाधिसम्भ्रान्तिर्यदा दूरीभविष्यति ॥५३॥

ब्रह्मसत्तैव लक्ष्यार्थरूपेणैवावशिष्यते ।
मायोपाधैमहत्त्वञ्च तत्त्वज्ञानेन वेत्स्यते ॥५४॥

ततश्च ब्रह्मरूपो हि लक्ष्यार्थः परिशिष्यते ।
जीवन्मुक्ता महात्यानस्तत्त्वज्ञानाधिपारगाः ॥५५॥

जीवेशयोरित्यमेतमभेदमनुभूय च ।
ब्रह्मानन्दे निमज्जन्तः कृतकृत्या भवन्ति ते ॥५६॥

इस वेदान्त के सिद्धान्त का तात्पर्य सुनो। जव अविद्यारूप उपाधि भ्रम दूर हो जायगा तो ब्रह्मसत्ता लक्ष्यार्थरूप से अवशेष रहेगी। उसी प्रकार जब मायारूप उपाधि का महत्व तत्वज्ञान के द्वारा ज्ञात होगा तब भी लक्ष्यार्थरूप ब्रह्म ही अवशेष रह जायगा। इस प्रकारसे तत्वज्ञानी जीवन्मुक्त महात्मा जीव और ईश्वर दोनों की यह अमेद सत्ता अनुभव करके वे ब्रह्मानन्द में निमग्न होते हुए कृतकृत्य होते हैं ॥५३-५६॥

जड़ैजीवंगणर्विश्वं विषयात्मकमीक्ष्यते ।
अज्ञानिजीवजातन सुखरूपं निरीक्ष्यते ॥५७॥

इस संसार को जड़ जीवगण विषय के रूप में देखते हैं, अज्ञानी जीव गण सुख रूप से देखते हैं ॥५७॥

जगत्प्रपञ्चजातन्तु ज्ञानवद्भिर्विवेकिभिः।
परिणामीति विज्ञाय दुःखरूपं प्रतीयते ॥५८॥

ज्ञानवान् विवेकिजन सम्पूर्ण संसारप्रपञ्च को परिणामी जानकर दुखमय रूप में अनुभव करते हैं ॥५८॥

किन्तु मे ज्ञानिनो भक्ता जीवन्मुक्तगणाः खलु ।
संसारमेतं पश्यन्ति स्वरूपे काऽप्यलौकिके ॥५९॥

परन्तु मेरे ज्ञानीभक्त जीवन्मुक्तगण इस संसार को कुछ और ही अलौकिक रूप में देखते हैं ॥५९॥

संसारं मे प्रकृत्यैतं प्रसूतं सर्वथाऽद्भुतम् ।
आकाश इव गान्धर्व पश्यन्तो नगरं मुहुः ॥६०॥

मिथ्यैव तत्स्वरूपञ्च जानन्तोऽपि द्विजोत्तमाः।
दर्श दर्श प्रमोदन्ते तद्रूपं कौतुकप्रदम् ॥६१॥

हे विप्रवरो! ये मेरी प्रकृतिप्रसूत सर्वथा अद्भुत इस संसार को आकाश में गन्धर्व नगर के समान बार बार देखकर और उसके स्वरुप को मिथ्या ही जानते हुए भी उस कौतुकप्रद रूप को देख देखकर आनन्दित होते हैं ॥६०-६१ ॥

मृगतृष्णासमं विश्वं भ्रान्तिस्तोमसमाकुलम ।

दृष्ट्वेन्द्रजालवन्मिथ्या-प्रपञ्चावलिमूलकम् ॥६२॥

मम शक्तेर्गुणानाञ्च परिणामस्वरूपकम् ।
तत्र नैव प्रसज्जन्ते पद्मपत्रमिवाम्भसि ॥६३॥

तिष्ठन्तोऽपि प्रपञ्चेषु पृथग्भूतास्ततो ध्रुवम् ।
भवितुं ह्येतदेवाऽहर्ये लक्ष्यमुच्चपदं हितम् ॥६४॥

श्रेष्ठानां ब्राह्मणानां हि सर्वत्रैव सुखावहम् ।
परीवारोपमास्तेषां संसारा अखिला अमी। ॥६५॥

वह इस संसार को मृगमरीचिकापवत् अनेक भ्रमयुक्त, इन्द्रजालवत् मिथ्या प्रपञ्चो का मूल और मेरी शक्ति के ही गुणौ का परिणामस्वरूप देखकर उसमें फंसते ही नहीं। यह इस प्रपञ्च में रहकर भी जल में पद्म पत्र के समान उससे अलग ही रहते हैं। श्रेष्ठ ब्राह्मणों का यही सर्वत्र ही सुखप्रद हितकर उच्चपद लक्ष्यरूप होना चाहिये । उनके लिये यह समस्त संसार परिवारके समान है ॥६२-६५॥

देवर्षिपितृसङ्घाश्च तदर्थ बान्धवोपमाः ।
साज्यं वाऽऽदेयमप्यस्ति तेषां नैवेह किञ्चन ॥६६॥

देवता ऋषि और पितृगण उनके लिये बान्धव हैं। उनके लिये इस संसार में गृहणीय भी कुछ नहीं ही है और त्याग करने योग्य भी कुछ नहीं ही है॥६६॥

पितरौ च कुलं जाति स्थूलदेहेन कुर्वते ।
निखिलां पृथिवीं धन्यां मातृभूमि विशेषतः ॥६७॥

वह स्थूल शरीर से माता पिता कुल जाति और समस्त पथिवी को और विशेषतः जन्म भूमि को धन्य करते हैं। ॥६७॥

दैवीच जगतीं सूक्ष्मां सूक्ष्मदेहेन कुर्वते ।
सर्वदा सर्वथा धन्यां ते विमा नैव संशयः ॥६८॥

हे विप्रो! वे सूक्ष्मशरीर से सूक्ष्मदैवी जगत् को सब प्रकार से सर्वदा धन्य कहते हैं इसमें सन्देह नहीं है॥६८॥

ब्रह्मानन्दसुसन्दोहसविलासस्वरूपतः।
धन्यं धन्यं पुनर्धन्यं कुर्वते मामसंशयम् ॥६९॥

और ब्रह्मानन्द सुसन्दोह के सम्यक् विलासखरूप से नि:सन्देह मुझे धन्य धन्य करते हैं ॥६९॥

इति श्रीधीशगीताम्पनिपत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे धीशर्षि संवादे
वेदान्तसिद्धान्तनिरूपणं नाम पष्ठोऽध्यायः ।

इस प्रकार श्रीधीशगीतोपनिषद् में ब्रह्मषिधासम्बन्धी योग शास्त्रका धीशर्षि संवादात्मक वेदान्तसिद्धान्तनिरूपण नाम का छठा अध्याय समाप्त हुआ ।

॥ श्री हरि ॥

॥ श्री धीश गीता ॥

अथ सप्तमोऽध्याय : सातवाँ अध्याय

विराट्स्वरूपनिरूपणम्।

ऋषय ऊचुः ॥ १॥

ऋषिगण बोले ॥ १॥

हे सर्वज्ञ ! जगन्निवास ! भगवन् ! देवादिदेव ! प्रभो !
हे सर्वादिगुरो ! दयार्णव ! विभो ! विश्वेश ! विश्वम्भर ।
अस्माकं भवतामपारकृपया नूनं तृतीय वरमद्यान्तनयनात्मकं
सुविमलं ज्ञानाक्षि प्रोन्मीलितम् ॥ २ ॥

हे प्रभो ! हे भगवन् ! हे सर्वज्ञ ! हे दयार्णव ! हे विश्वेश! हे देवादिदेव ! हे जगन्निवास ! हे सब गुरुओं के आदिगुरु ! हे विश्वम्भर ! हे विभो ! आपकी अपार कृपा से आज हमारा अन्तर्नेत्र रूपी ज्ञाननेत्र जो श्रेष्ठ निर्मल तृतीय नेत्र है सो निश्चय ही खुल गया है ॥१॥

पश्यामोऽद्य भवद्दयोदयवशाद्वारे मणीनां गणान
सूत्रं प्रोतमिवान्तरेण निखिलब्रह्माण्डपिण्डवज्रे।
सर्वेषां कुरुते सदैकविधिनाऽनुस्यूततामाप्तवान

चैतन्यास्तितयोर्विधानमाखिलं शश्वद्भवानित्यहो ॥३॥

आप की कृपा के उदय से अब हम देखते हैं कि आप जैसे मालाम में मणिगण के बीच पिरोया हुआ सूत्र रहता है उसी प्रकार सब पिण्ड और सब ब्रह्माण्डों में एकरूप से सदा अनुस्यूत रहकर अहो! सबके अस्तित्व और सबके चैतन्य का सम्पूर्ण विधान निरन्तर करते हैं ॥३॥

पश्यामस्तरतो गृहेऽपरिमितान् भूयो यथाऽनन्त ! हे
रन्ध्रद्वारनिविष्टसूर्यकिरणस्तोमेष्वणूनां गणान् ।
ब्रह्माण्डानि तथा तरन्ति च विराडदेहाश्रितानि प्रभोनधिन्ते
विपुलेऽमितानि वियति प्रोद्योतयन्ति ह्यमुम् ॥४॥

पुनः हे अनन्त ! जिस प्रकार घर में छिद्ररूप मार्ग से, प्रविष्ट सूर्य किरणों में तैरते हुए अपरिमित अणु समूह को हम देखते हैं उस प्रकार आदि अन्त रहित महाकाश में अनन्त ब्रह्माण्ड समूह आपके विराट देह को आश्रय करके तैर रहे हैं और शोभा को निश्चय ही बढ़ा रहे हैं ॥४॥

पश्यामश्च पुनर्वयं तव विरारूपं हि यत्राधना भात्यन्तो
हरितां न चादिरपि तद्देशस्य सन्दश्यते ।
पच्यामश्च पुनर्वयं तब महादेहे महाकौतुकम्
व्याप्तश्चाऽगणितविराड्वपुपि ते सूर्यग्रहोपग्रहैः ॥ ५॥

सडघात प्रतिघाततः परिणमन् ब्रह्माण्डमाण्डव्रजः
हान्योऽन्यं परमाणुल्पनिचयेऽनन्तो महाकाल है।

जायन्ते परमाणवश्च निखिला ब्रह्माण्डरूपाः पुनः
नानाकारयुताः प्रभो ! बहुविधाः प्रत्येकमेव क्षणम् ॥६॥

नक्षत्रावलिभिश्च नूनमखिलः क्वापि ग्रहोपग्रहैः
सूर्याद्योर्ही समावृताः सुमधनाः सन्तः परीणामतः ।
ब्रह्माण्डव्रजसम्भवक्षयविधिर्यत्र प्रभो ! भासते
काले तस्य न दृश्यते कथमपि त्वादिर्न चान्तः परम् ॥७॥

हम पुनः देख रहे हैं कि आपका विराटरूप जहां इस समय प्रकाशित हो रहा है उस देश की दिशाओं का न आदि और न अनन्त ही दिखाई देता है। हे महाकाल! हम पुनः आपके विराट् देह में महाकौतुक देख रहे हैं। आपके उस विराट् वपु में अनन्त सूर्य और अनन्त ग्रह उपग्रह द्वारा परिव्याप्त अनन्त ब्रह्माण्डसमृह आपस के घातप्रतिघातसे परमाणुपुञ्ज सम्यक रूप से परिणत हो रहे हैं और हे प्रभो! कहीं सभी परमाणुपुञ्ज सम्यकय रूप से पुन: घनीभूत होकर नक्षत्रसमूह और सूर्यादि अखिल ग्रहोपग्रहो से आवृत अनेक प्रकार के और अनेक आकृति वाले ब्रह्माण्ड रूपों में अनुक्षण ही परिणत हो रहे हैं। परन्तु हे प्रभो! इन ब्रह्माण्डसमूह की उत्पत्ति और लय का कार्य जिस काल में प्रतिभासित होता है उस काल का किसी प्रकार भी न आदि और न अन्त हमें दिखाई पड़ता है।॥५-७॥

सार्द्धञ्चव विराड्इनन्तवपुपा प्रोतौतयोस्ते तयोः
नान्तो नादिरवेक्ष्यते किमपि चेद्देशस्य कालस्य च ।
द्रष्टुं तर्हि विराडनन्तपुपः शक्तः कथं कोऽप्यहो
आदि चान्तमशेषतः किमुत वै मूढा वताऽस्मादृशाः ॥८॥

आपके विराट रूप असीम देह के साथ ही ओतप्रोत उन देश और काल का जब आदि और अन्त कुछ भी हमें दिखाई नहीं पड़ता है तब अहो ! आपके विराटरूप असीम देह का आदि और अन्त निःशेषरूप से देखने में कोई भी किस प्रकार समर्थ हो सकता है और हमारे जैसे मूर्खों की तो बात ही क्या है ॥८॥

भूतस्रष्टरु ! भूतपालक! सदा हे भूतहारिन ! विभो !
अस्माभिनिखिलैरितीक्ष्यत इहानन्तानि भूयोऽपि ते।
ब्रह्माण्डानि पृथक् प्रकट्य प्रकृते: कर्मप्रवाहे पृथक
लीयन्ते प्रकृती स्वयं तव मुहुः सद्यो निविष्टानि च ॥९॥

हे सदा भूतस्रष्टा ! भूतः पालक ! भूतहारी विभो ! हम सब यहां फिर भी यह देखते हैं कि अनन्त ब्रह्माण्डसमूह पृथक पृथक रूप में आपकी प्रकृति से कर्म स्त्रोत में अपने आप ही प्रकट होकर अपने आप ही आपकी प्रकृति में सद्यः प्रवेश करके बारबार लय को प्राप्त होते हैं।॥९॥

जायन्ते प्रकृतहि पिण्डनिवहास्ते भूतभावोद्भव
कृद्रूपेण चितो जड़ेन सह यो ग्रन्थिविसर्गेण वै ।
तद्रूपाः परमाणुतो हयगणिताः प्रत्येकतो हि स्वतः
कर्मस्रोतसि ते प्रविश्य प्रकृतौ लीयन्त एवं ततः॥१०॥

उसी कर्म स्रोत में अपने आप ही प्रत्येक परमाणु से भूतभावोद्भवकर विसर्ग द्वारा आपकी ही प्रति से चिजडग्रन्धिरूपी अनन्त पिण्ड प्रकट

होते हैं और दूसरी और अपने आप ही आप की प्रकृति में प्रवेश करके लय को प्राप्त होते हैं ॥१०॥

पश्यामश्च भवाननन्तनयनो हे विश्वचक्षुः ! क्रमात
पिण्डौघस्य गति प्रपश्यति सदा ब्रह्माण्डपुञ्जस्य च ।
आकृष्याभिमुखं निजस्य नयने धर्मस्य शक्तया
च तं दृष्ट्वा सर्वपलौकिकं हि चकिता बुद्धिर्न पताशम ॥११॥

हे विश्वचक्षु ! हम लोग पुनः देखते हैं कि आप अनन्त नेत्र होकर पिण्डसमूह और ब्राह्माण्डसमूह की गति को निरन्तर देखते हो और अपनी धर्मशक्ति के द्वारा क्रमशः उनको अपनी ओर आकर्षित करते जाते हो। इस प्रकार के सब चमत्कारों को देखकर हमारी बुद्धि चकित हो रही है ॥११॥

पश्याम पुनरप्पनन्ननिखिलब्रह्माण्डपिण्डावले:
श्रोत्रानन्ययुनः शृणोनि सततं भूयो भवान प्रार्थनाम ।

चिच्छतया चितिसंयुताभ विदधना विश्वचेतः क्रमान
सान्निध्यं च यथोचरं निजमहोनस्य दिशन् राजते ॥१२॥

हे विश्वचेता ! हम फिर भी देखते हैं कि आप अनन्तकर्ण होकर सब अनन्त ब्रह्माण्ड और सब अनन्त पिण्डो की प्रार्थना निरन्तर श्रवण करते हैं और चितिशति द्वारा उनको क्रमशः उत्तरोत्तर चेतनायुक्त करते हुए और अहो ! उनको आप अपना सानिध्य देते हुए विराजमान हैं ॥१२॥

पश्यामश्च भवानन्तरमनायुक्तः मुहत्त्वं गतः
बुद्धे रूपमधिधितो रसमय ! ब्रमाण्डपिण्डावलंः ।
मध्येऽध्यान्मपदे विविच्य परमानन्दान्मकं प्राणिनः
सर्वान दर्शयते गुरो ! निजकृपालेशन लोकाश्रय ! ॥१३॥

हे रसमय ! हम पुनः देखते हैं कि आप अनन्त रसनायुक्त होकर ब्रह्माण्डसमूह और अनन्त पिण्डसमूह में बुद्धिरूप से सुहृद्भाव में रहकर हे लोकाश्रयगुरो! आप सब प्राणियो को अपने कृपाकण से विवेकपूर्वक परमानन्दमय अध्यात्मपद दिखा देते हो ॥१३॥

हे तेजोमय ! तेजसाञ्च निवहाना हे खने ! दृश्यत
त्वं स्पर्शेन्द्रियपुज्जकुजनिकरैः स्पृष्ट्वा हानन्तैर्युतः ।
स्वैस्तेजोनिवहैरनन्तगणितब्रह्माण्डपिण्डावर्ली
सर्वा स्वाभिमुखं प्रकृप्य पतनाच्छश्वद्रिभा ! रक्षारी ॥१४॥

हे सकल तेजों के खनिरूप तेजोमय ! हम पुन: देखते हैं कि आप अनन्त स्पर्शन्द्रिय समूह से युक्त होकर अगणित और अनन्त ब्रह्माण्ड और पिण्डसमूह को अपने तेजों के द्वारा स्पर्श करके सबको अपनी ओर निरन्तर खींच कर हे विभो ! उनका पतन होने नहीं देते हो ॥१४॥

विश्वाधार ! च नामिकाभिरमिताभिस्त्वं युतो दृश्यस
जिघ्रन पुण्यसमूहगन्धममलं ब्रह्माण्डपिण्डावलेः ।
अस्तित्वञ्च विलीनमैव सततं कत्तं हि तस्या निजे

केवल्याभ्युदयौ प्रयच्छसि यथायोग्याधिकारं प्रभो ! ॥१५॥

हे विश्वाधार ! हम पुनः देखते हैं कि आप अनन्त नासिकायुक्त होकर ब्रह्माण्ड और पिण्डसमूहक के पुण्य पुञ्ज का शुभ आघ्राण ग्रहण करके उनके अस्तित्व को अपने में ही विलीन करने के लिये हे प्रभो! उनको उनके यथायोग्य अधिकारक अनुसार अभ्युदय और निःश्रेयस निरन्तर प्रदान करते रहते हो ॥१५॥

भावातीत ! विभो ! गदा त्रिगुणतोऽनीन ! प्रमोऽनुसण
मस्मात्पूर्वमलौकिक गुणमयं भावस्वरूपं नव।
रूपं सर्वमनोहरं सुविमलं दशन्द्रियाप्यायक
मस्माकं हि मनो व्यलीयत तदा सम्पश्यतां सत्वरम ॥१६॥

हे त्रिगुणातीत ! सदा हे भावातीत ! हे विभो ! हे प्रभो ! इससे पूर्व जब हम दर्शनेन्द्रियो को तृप्त करनेवाले निर्मल और सर्व मनोहर आप के गुणमय और भावमय अलौकिक रूप का दर्शन करते थे तब हमारा मन शीघ्र लयावस्था को प्राप्त हो गया था ॥१६॥

अद्यत्वे तु विरादस्वरूपममुकं दृष्ट्वा विशालं तव
बुद्धिर्नः स्थगिता च याति चकिताऽवस्थां विलीनां पुनः।
रूपं नः परिदर्शयाध कृपया ह्येवम्विधं स्वं यतः
सान्निध्य भवतामनुक्षणमहो लब्धुं वयञ्चेश्महे ॥१७॥

अब तो आपके इस विशाल विराट् स्वरुप का दर्शन करके हमलोगों की बुद्धि भी चकित और थकित होकर लयावस्था को प्राप्त हो रही

है। अब कृपा करके आप ऐसे अपने रूप में हमें दर्शन देखें कि जिसके अवलम्वन से हम हर समय अहो! आपके सान्निध्य को भी प्राप्त करसकें ॥१७॥

हे सर्वेश्वर ! भक्तकल्पलतिकारूप ! प्रभो ! पालक !
रूपेणापि विवर्जितो विभुरहो भव्याय भक्तावलेः ।
भक्तानां प्रकृतिप्रतिजनितां स्वीकृत्य वै प्रार्थनां
कल्याणं सगुणं स्वरूपममितं साध्नोति विभदभवान् ॥१८॥

हे सर्वेश्वर! हे भक्तवाञ्छा कल्पतरु! हे प्रभो हे पालक! आप रूपरहित और विभु होने पर भी अहो! अपने भक्तों के कल्याण के लिये उनकी प्रकृति और प्रवृत्ति जनित प्रार्थना को स्वीकार करके ही नाना सगुणरूप धारण करके उनका कल्याण साधन करते हैं ॥१८॥

विभ्राणो रविरूपमेव सवितः! भक्तान भवांस्तेजसा
आकर्षत्यनिशं विभो ! यतितरां कैवल्यभूमौ ध्रुवम ।
हे नारायण ! विष्णुरूपमभितः स्वीकृस चिद्धावतो ।
ब्रमीभावामिमान निरीक्ष्य नयते तेषां क्रमेणोन्नतिम् ॥१९॥

हे सवितः! आप ही सूर्य रूप धारण करके तेज द्वारा हे विभो ! भक्तों को कैवल्य भूमि में निरन्तर ही अतिशय आकर्षित करते हैं। हे नारायण ! आप विष्णु रूप धारण करके चिद्धाव द्वारा उनकी क्रमोन्नति का पर्यवेक्षण करके उनको ब्रह्म सभाव प्राप्त कराते हो ॥१९॥

देवीरूपमही धरन हि नयते धर्मस्य शक्त्या भवान

सर्वेषां ह नियामकं परपदं हे शक्तिमन ! तान्सदा ।
अस्तित्वस्य विधायकं च बहु सद्भावेन भक्तान्निजान
हे शम्भो ! शिवरूपतो गमयते निःश्रेयसं निर्भयम ॥२०॥

हे शक्तिमान् ! अहो ! आप ही देवीरूप धारण करके धर्मशक्ति द्वारा सबके नियामक परमपद में सदा उनको पहुंचा देते हैं। हे शम्भो: आप ही शिवरूप धारण करके सदभाव द्वारा सबके अस्तित्व विधानकारी निर्भय निःश्रेयस पद में अपने भक्तो को अवश्य पहुंचा देते हैं ॥२०॥

स्वं भक्तांश्च धिया स्वरूपमानिशं सन्दर्य सिद्धेः पते !
दत्ते मुक्तिपदं पर गणपतेधृत्वा स्वरूपं भवान ।
सर्वेषामिह वर्त्तते खलु गुरो ! ह्याद्यो गुरुणां गुरुदेशादस्ति
भवान् हि शश्वदपरिच्छिन्नस्तथा कालत: ॥२१॥

त्वं सर्वादिगुरुविभासि सकलालज्ञानस्वरूपे
सदा आदायपिंगणा वयं तव विभो ! ज्ञानाधिविमुइलवमः ।
ब्रह्माण्डेषु प्रवाहयाम इह वै ज्ञानप्रवाहं तथा
सर्वप्वत्र विचक्षणा द्विजगणाः स्नात्वैव मुक्ति ययुः ॥२२॥

और हे सिद्धिपते ! आप ही गणपति का स्वरुप धारण करके बुद्धि द्वारा भक्तों को स्वस्वरूप दिखाकर निरन्तर परममुक्तिपद प्रदान करते हैं । हे गुरो ! इस संसार में आप ही सब गुरुओं के आदिगुरु है क्योकि आप सकल देशकाल से निरन्तर अपरिच्छिन्न और सर्वादिगुरु होकर ज्ञानस्वरूप में सदा विराजमान रहते हैं और सब

ब्रह्माण्डों में हम ऋषिगण हे विभो ! आपके ही ज्ञानसागर की विप्रट कणिका को लेकर ज्ञान स्रोत को इस विश्व में प्रवाहित करते है। इसमें विद्वान् ब्राह्मणगण स्नान करके ही मुक्ति को प्राप्त हुए है ॥२१-२२॥

धारोत्पद्य हि देवनायक ! विभो ! सर्गस्थितिध्वंमकृ
द्विश्वव्यापककर्मणोऽपि भवतस्त्वय्येव संलीव्रते ।
सर्वे देवगणाः सदैव भवतामङ्गीभवन्तो मुदा
प्रत्येकं जानिरक्षणक्षयविर्धे ब्रह्माण्डपुञ्जेऽनिशम् ॥२३॥

सामञ्जस्यमहो प्रभो ! विदधते कर्मव्यवस्थारताः
उद्भित्स्वेदजरायुजाण्डजगणा भूतत्रजाः सन्ति ये।
सर्व ते च चतुर्विधा हि मनुजानां हे प्रजानां पते !
देवानां त्रिविधास्ताऽसुरगणानां ये च लोका अहो ॥२४॥

त्वत्तो बुबुदवन्महार्णव इह त्वय्येव प्रोद्भय ते लीयन्ते
पितरोऽपि शक्तिमतुलां त्वत्तो गृहीत्वैव च ।
कृत्वा मर्त्यगणोन्नति क्रमगतां साहाय्यमातन्वते
भूतौघस्य चतुर्विधस्य नियमे लोकव्रजस्याप्यलम् ॥२५॥

हे देवनायक विभो ! सृष्टि स्थिति प्रलय कारिणी विश्व व्यापक कर्म की धारा आप से उत्पन्न होकर भी आप में ही विलीन होती है और सब देवतागण सदा आपके ही अङ्गरूप होकर अहो ! प्रत्येक ब्रह्माण्डों में प्रसन्नता से कर्म की व्यवस्था अहर्निश करते हुए हे प्रभो! सृष्टि स्थिति और लय की व्यवस्था का सामञ्जस्य विधान करते हैं। हे प्रजापते ! उद्भिज स्वदेज अण्डज और जरायुज समूह रूपी जो चतुर्विधभूत सङ्घ है वह सब और अहो! जो देवी मानवी और

आसुरीरूपी त्रिविध लोक सृष्टियाँ हैं वे सब महासमुद्र में बुद्धवत् आप से ही यहां उत्पन्न होकर आप में ही लय को प्राप्त होती हैं और पितृगण आप से ही अतुल शक्ति को लेकर मनुष्यों की क्रमोनन्ति विधान करके चतुर्विधभूतसङ्घ और लोकसमूह की व्यवस्था में भलीभांति सहायता करते हैं ॥२३-२५॥

तत्त्वेभ्योऽपि भवानतीतविभवो नूनं चतुर्विंशते
यद्यप्यस्ति तथापि धीश ! नु महत्तत्त्वेऽन्तिमे प्राणिनः।
नित्योऽनिर्वचनो विकाररहितो ज्ञानस्य शक्तया स्थितः
सर्वानभ्युदयस्य दर्शयति वै मोक्षस्य मार्ग तथा ॥२६॥

हे धीश ! यद्यपि चतुर्विंशति तत्व से भी अतीत विभव ही आप हो तथापि आप अन्तिम तत्व बुद्धि में ज्ञानशक्ति रूप से अविकारी अनिर्वचनीय और नित्य स्थित रहकर जीवमात्र को अभ्युदय और निःश्रेयस का मार्ग प्रदर्शन कराते हो ॥२६॥

ये स्वातन्त्र्यमदेन मोहिततमा जीवाः प्रमादेन वे
मूढ़ा ज्ञाननिधेस्तवेङ्गितमहो निसं तिरस्कुर्वते ।
भ्रान्ता दुःखदजन्ममृत्युगहने संसारचक्रे ध्रुवम
शंयोरभ्युदयाध्वनो हि पतिता दुःखान्यलं भुञ्जते ॥२७॥

स्वाधीनता के मद से विमोहित जो मूढ़ जीव प्रमाद वश ही ज्ञाननिधि आपके इङ्गित की अहो ! नित्य अवहेलना करते हैं वह अवश्य कल्याणकारी अभ्युदय के मार्ग से व्युत होकर ही दुःखदायी जन्म मृत्युओ के गहन संसारचक्र मे अतिशय घूर्णायमान होकर दुःख भोगते रहते हैं ॥२७॥

भर्गो विश्वसमर्चितं यदिह ते ह्यास्ते दयासागर !
तन्नो बुद्धिमहर्निशं गणपते ! शक्तचा स्वया सत्वरम ।
संरक्ष्यासत एव कर्मनिवहात् सत्कर्मणि प्रेरयेत्
सियाऽलङ्कृतवामपार्श्व ! भगवस्त्वां सन्नमामो वयमा ॥२८॥

हे दयासागर! आपका ही जो इस संसार में जगत्पूज्य भर्ग (तेज) है वह हे सिद्धिदेवी से अलङ्कृतवाम पार्श्व भगवन् गणपते ! हमारी बुद्धि को अपनी शक्ति के द्वारा असत् कर्म समूह से बचाकर सत्कर्म में शीघ्र प्रेरणा करे। आपको हम अनन्यभाव से प्रणाम करते हैं ॥२८॥

व्यास उवाच ॥२९॥

व्यासदेव बोले ॥२२॥

उक्त्वर्पयस्तस्थुरिति क्षणं ते रोमाञ्चिता गद्गदकण्ठशब्दाः।
सानन्दजाताश्रुमुखाः स्थिराश्च विहस्य धीशो मधुरं तदोचे ॥३०॥

इतना कहकर वे ऋषिगण कुछ देर तक आनन्दाश्रयुक्त मुख गद्र गदकंठस्वर रोमाञ्चित और निःस्तब्ध होकर रहे। तदनन्तर भगवान् गणपति जी ने मुस्कराकर मधुर स्वर से कहा ॥३०॥

गणपतिरुवाच ॥३१॥

गणपति बोले ॥ ३१॥

दशायां योगयुक्तायां रूपं मे सगुणं द्विजाः !।

आत्मयुक्तदशायाञ्च विराटरूपं महाद्भुतम् ॥३२॥

कर्मयुक्तदशायान्तु ममोपास्तौ सहायकम् ।
मद्विभूतिमयं रूपं भक्ताः ! स्याच्छ्रुतिरित्यहो! ॥३३॥

हे भक्त द्विजगण ! योगयुक्त अवस्था में मेरा सगुणरूप, आत्मयुक्त अवस्था में मेरा महदद्भुत विराटरूप और कर्मयुक्त अवस्था में मेरा विभूतिमय रूप मेरी उपासनामें सहायक होता है। अहो ! यही श्रुति है ॥३२-३३॥

स्वाधीनः प्राकृतश्चैव विविधो जीव ईरितः।
गजोऽहं प्राकृते जीव स्वाधीने मानवस्तथा ॥३४॥

जीव प्राकृत और स्वाधीनरूप से दो प्रकार का कहा गया है। प्राकृत जीवों में मैं हस्ती हूँ और स्वाधीन जीवों में मैं मनुष्य हूँ॥३४॥

अतोऽहं भक्तवृन्देभ्यो मर्त्यदहो गजाननः।
दर्शन एवं प्रयच्यामि प्रादुर्भूय निरन्तरम् ॥३५॥

इसी कारण हस्ती के सदृश मुख और मनुष्य सदृश शरीर होकर मैं भक्तों को निरन्तर प्रकट होकर अपना दर्शन देता हूँ ॥३५॥

राजयोगोऽस्मि योगानामहमेवंविधोऽपि सन।
चतुर्विधेषु ध्यानेषु पञ्चोपास्तेरहं ध्रुवम् ॥३६॥

पञ्चध्यानयुतं स्थूल-ध्यानमास्मि द्विजोत्तमाः ।
नैवात्र संशयः कश्चित् सत्यं सत्यं ब्रवीमि वः ॥३७॥

मैं योग में राजयोग हूँ परन्तु हे द्विजश्रेष्ठो ! ऐसा होकर भी मैं चतुर्विध ध्यानों में से पञ्चोपासना के पाँच ध्यान युक्त स्थूल ध्यान ही हूँ इसमें कुछ सन्देह नहीं है मैं आपलोगो से सत्य सत्य कहता हूँ ॥३६-३७॥

नरेषु नरनाथोऽस्मि राज्ये तु सचिवाभिधः।
मन्त्रिणां मण्डलं यस्माज्ज्ञानस्यास्ते सहायकम् ॥३८॥

नरों में मैं राजा हूँ परन्तु राज्य में मैं मन्त्रीरूप हूँ क्योकि मंत्रिमण्डल ज्ञान सहायक है ॥३८॥

शक्तिष्वहं देवशक्तिरीदृशोऽहन्तु सन्नपि ।
लौकिक शक्तिपुञ्जेऽस्मि सशक्तिमहर्षयः॥ ३९॥

शक्तियों में मैं दैवी शक्ति हूँ परन्तु ऐसा होकर भी हे महर्षियो! मैं लौकिक शक्तियो में मै सङ्घशक्ति हूँ॥३९॥

आध्यात्मिक्याधिदैव्याधिभौतिक्यः शक्तयोऽखिलाः ।
सङ्घशक्तौ प्रकाशन्ते स्वयमेव यतो ध्रुवम् ॥४०॥

क्योंकि संघ शक्ति में आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों शक्तियों का विकास अपने आप ही अवश्य हो जाता है।॥४०॥

वर्णेषु ब्राह्मणश्चाहमाश्रमेवान्तिमाश्रमः।
वृद्धत्त्वेनैव पृज्येषु सर्ववृद्धेष्वहं द्विजाः ॥४१ ॥

सर्वथा ज्ञानवद्रोऽस्मि नात्र कार्य्या विचारणा ।
अध्यात्मलक्ष्यसंयुक्त आर्योऽहं मानवेपु च ॥४२॥

मैं वर्णों में ब्राह्मण हूँ और आश्रमों में मैं सन्यासाश्रम हूँ । हे ब्राह्मणो ! वृद्धत्वरूप से पूजनीय सब प्रकार के वृद्धों में सर्वथा में ज्ञानवृद्ध ही है; इसमें कुछ विचार न करो और मनुष्यश्रेणी में मैं अध्यात्म लक्ष्य युक्त आर्य हूँ॥४१-४२॥

भक्तेषु ज्ञानिभक्तोऽस्मि वेदानां सामनामकः।
किन्तु वेदविभागेपनिषद्रुपभागहम् ॥४३॥

भक्तगण में मैं ज्ञानीभक्त हूँ। वेदों के बीच में मैं सामवेद हूँ किन्तु वेदविभागों में उपनिषद हूँ ॥४३॥

मन्याहारञ्च योगानामद्रेप्स्मि परन्व्ह्म।
समधिर्निर्वीकाल्योऽपि निखिलेषु समाधिषु ॥४४॥

योग के अंगों में मैं प्रत्याहार हूँ परन्तु सब समाधियों में मैं निर्विकल्प समाधि हूँ ॥४४॥

मन्त्रयोगेषु मन्त्राऽम्मि प्राणायामो हठे द्विजाः ।
लयप्रिया नयेयोगे राज्योगे विवेचनम ॥४५॥

हे ब्राह्मणों ! मन्त्रयोग में मैं मन्त्र हूँ, हठयोग में मैं प्राणायाम हूँ, लययोग में मैं लयक्रिया हूँ और राजयोग में मैं विवेचन हूँ ॥४५॥

ब्रह्मदानञ्च दानेषु तपस्यास यमस्तथा ।
ज्ञानप्रकाशकन्वाञ्च कर्मयज्ञेषु भो द्विजा: ॥४६॥

नित्यकर्म्मास्मिहं नून नात्र कचिद्विवेचना ।
उपस्तियज्ञज्ञानेषु पराभक्तया समन्विता ॥४७॥

ब्रहमोपास्तिरह्यो विज्ञा अस्महं ब्राह्मणोंत्मा: !।

मननं ज्ञानयज्ञेषु महायज्ञेप्वकं तथा ॥४८॥

ब्रह्मयज्ञोऽमि प्रयाग भी विप्रा: ! सर्वयज्ञशिरोमणिः ।
वृक्ताऽरम्यहं सभामध्ये आचार्य: शिक्षकेषु च ॥४९॥

हे ब्राह्मणों ! दानधर्म में मैं ब्रह्मदान हूँ, तपधर्म में मैं यम हूँ, कर्मयज्ञ में ज्ञानप्रकाशक होन से नित्य कर्म ही हूँ इसमें कोई विवचना नहीं है । हे विज्ञ ब्राह्मण श्रेष्ठो ! उपासना यज्ञों मे मैं अहो ! पराभक्तियुक्त ब्रहमोपासना हूँ , ज्ञानयज्ञों में मैं मनन हूँ और हे विप्रों ! महायज्ञों में मैं सर्वयज्ञ शिरोमणि ब्रह्मयज्ञ हूँ। सभा के बीच में मैं वक्ता हूँ और शिक्षकों के बीच में आचार्य हूँ ॥४६-४९॥

उपदेशकवृन्देषु जगत्ययोऽम्यहं गुरुः ।
आत्माऽमस्मि भो विप्रा: ! भृतवृन्देप्ववस्थितः ॥५०॥

उपदेशकों के बीच मैं जगत्पूज्य गुरु हूँ। हे विप्रो ! भूतगण के अन्तर में अवस्थितम मैं आत्मा हूँ ॥५०॥

प्राणिपुञ्जेषु चैतन्यमहमेव न संशयः ।
नादः शब्दसमूहेषु वाक्येप्योङ्कार एव च ॥५१॥

सब प्राणियों में मैं ही निःसन्देह चेतना रूप हैं। मैं शब्दसमूह में नाद और वाक्यसमूह में ओंकार ही हूँ ॥५१॥

इन्द्रोऽहं देववृन्देषु भृगुरस्मि महर्षिषु ।
यमो नियामकेप्वस्मि पितृमध्येऽर्यमाभिधः ॥५२॥

मैं देवताओं में इन्द्र, महर्षियों में भृगु, पितरों में अर्यमा और नियामकों में यम हूँ॥५२॥

असुरेषु बलिर्यज्ञो जाहव्यस्मि सरित्सु च।
जलाशयेषु सर्वेषु सागरोऽस्मि न संशयः ॥५३॥

असुरो में मुझको बलि जानो, मैं सरिताओं में जाहनवी और सब जलाशयों में निःसन्देह सागर हूँ॥५३॥

पुष्पमानन्ददेवस्मि पदार्थेषु महार्षयः!
पवित्रं परमं विप्राः ! तेजस्तेजस्विनामहम् ॥५४॥

हे महर्षिगण आनन्दप्रद पदार्थों में मैं पुष्प हूँ। हे विप्रो! तेजस्वि यों में मैं परम पवित्र तेजरूप हूँ॥५४॥

बलं बलवत्तामस्मि कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि जननाय च ॥५५॥

बलवानों में मैं कामरागविवर्जित बल हूँ और उत्पत्ति के लिये प्राणियों में मैं धर्म विरुद्ध काम हूँ ॥५५॥

विद्यास्वध्यात्मविद्याऽस्मि विद्वांसो ब्राह्मणोत्तमाः!।
सत्यमकाशकश्चास्मि वादो वादिगणेप्वहम् ॥५६॥

हे विद्वान् विप्रवरो ! मैं विद्यासमूह में अध्यात्मविद्या हूँ और वादिगण में मैं सत्य प्रकाशक वाद हूँ॥५६॥

नारीप्वहं तपोरूपो यज्ञरूपों नरेषु च।
गुणत्रयेष्वहं विप्राः ! गुणाः सत्त्वाभिधानकः ॥५७॥

स्त्रियों में मैं तपोरूप हूँ और परुषों में मैं यज्ञ रूप हूँ । हे विप्रों ! मैं त्रिगुण में सत्वगुण हूँ ॥५७ ॥

भावत्रयेऽध्यात्मभावः शीलेषु विनयोऽस्म्यहम् ।
सदाचारेषु वृद्धानां प्रणतिः पादपद्मयोः ॥५८॥

त्रिभावों में मैं अध्यात्मभाव हूँ, मैं शील में विनय और सदाचारो में वृद्धो के चरणकमलों में प्रणामरूप हूँ। ॥५८॥

कारणब्रह्मरूपेण हयेकोऽद्वैतोऽप्यहं द्विजाः।
अनन्तोऽस्मि महाविज्ञाः ! सैत्यमेतन संशयः ॥५९॥

हे महाविज्ञ ब्राह्मणो! में कारणब्रह्मरूप से एक अद्वितीय होकर भी अनन्त हूँ यह सत्य है. सन्देह नहीं है ॥५४॥

अनन्तत्वात्संख्यया मे कार्यब्रह्मस्वरूपतः।
सङ्खयातुं नैव शक्नोति विभूतीः कश्चिदप्यहो॥६०॥

कार्यब्रह्मरूप से संख्या से अनन्त होने के कारण मेरी विभूतियों की अहो ! कोई भी संख्या नहीं कर सकता। ॥६०॥

भवतां विप्रवर्याणां कल्याणार्थ हि केवलम।
दिग्दर्शनस्त्वरूपेण किञ्चिद्वो वर्णितं मयाः॥६१॥

केवल आप विप्रवरों के कल्याणार्थ ही दिग्दर्शन रूप से आपलोगों से यह कुछ वर्णन किया है॥६१॥

उपदेशश्च में हृद्यं धृत्वा स्त्वहृदयेऽनिशम् ।
ममोपास्तौ रताः सन्तो भजध्वं मोक्षमुत्तमम् ॥६२॥

आप मेरे हृदयग्राही उपदेश को अपने हृदय में निरन्तर रखकर मेरी उपासना मे रत होकर उत्तम मोक्षपद को प्राप्त हो ॥६२॥

श्रद्धा वः सात्त्विकी विप्राः ! प्रकृतौ मे चिरं वसेत् ।
ममैव प्रकृतिधृत्वा स्त्रीभावं कामदायिनी ॥६३॥

विभ्राणा भगिनीभावार्थसिद्धिप्रदायिनी ।
धरन्ती मातृभावञ्च शक्तिधर्मपदा सदा ॥६४॥

भूत्वा मे ज्ञानिनो भक्तान् प्रकृतिस्थान समन्ततः ।
तेभ्यो मुक्तिप्रदं दत्ते विदधाना सुदुर्लभम् ॥६५॥

हे विप्रों ! मेरी प्रकति पर आपकी सात्विक श्रद्धा चिरकालतक बनी रहे। मेरी प्रकृति ही स्त्रीभाव कों धारण करके कामदा, भगिनी भाव को धारण करके अर्थ और सिद्धि प्रदा और मातृभाव धारण करके सदा धर्म और शक्तिप्रदा होकर मेरे ज्ञानीभक्तो को सव ओरसे प्रकृतिस्थ करती हुई उनको सुदुर्लभ मुक्तिपद प्रदान करती है ॥६३-६५॥

श्रद्धान्वितानां मच्छतौ भक्तानां सुलभो भवेत ।
चतुर्वर्गों न सन्देहो विद्यतेऽत्र द्विजोत्तमाः ॥६६॥

मेरी शक्ति पर श्रद्धान्वित भक्तों को चतुर्वर्ग सुलभ हो जाता है हे विप्रवरो ! इसमें सन्देह नहीं है ॥६६॥

अत्यन्तं गोपनीया वः श्रावितोपनिपन्मया ।

धीशगीताभिधानेन लोकेष्वेपा प्रचार्यताम् ॥६७॥

यह मैंने अति गोपनीय उपनिषद् आप लोगो को सुनाया है आप इसको धीशगीता नाम से प्रचार करो ॥ ६७॥

यया मे निखिला भक्ताश्चतुर्वर्गमवाप्नुयुः ।
एषा नैव प्रदातव्या नास्तिकेभ्यः कदाचन ॥६८॥

पापिभ्योऽश्रद्दधानभ्यः प्राणिभ्यो ब्राह्मणोत्तमाः ।
अभक्तेभ्यः कृतघ्नेभ्यो गुरुद्रोहिभ्य एव च ॥६९॥

जिससे मेरे सब भक्त चतुर्वग प्राप्त करें। हे विप्रवरो ! अभक्त, नास्तिक, श्रद्धाहीन, गुरु विरोधी, कृतघ् और पापात्मा व्यक्तियों को इसको कदापि नहीं ही देना ॥६८-६९॥

श्रद्धा श्रीगुरुवाश्येषु येषां शास्त्रगणेष्वपि ।
विश्वासः परलोकेषु लक्ष्यमाध्यात्मिकं तथा ॥७०॥

मत्परायणता पुण्या वर्तते च निरन्तरम् ।
इयं तेभ्यः प्रदातव्या धीशगीता ध्रुवं द्विजाः ! ॥७१॥

गुरु और शास्त्रों में जिनकी श्रद्धा है, पर लोकपर जिनका विश्वास है, जिनका लक्ष्य आध्यात्मिक है और जिनमें पवित्र मत्परायणता निरन्तर है हे द्विजो ! उनको यह धीशगीता अवश्य देनी चाहिये ॥ ७०-७१॥

धीशगीतामिमां पुण्यां पाठयन्ति पठन्ति ये ।
क्लेशकर्मविषाकेभ्यो रहिता आशयेन च ॥७२॥

भजन्ते मेऽखिला भक्ता मत्सायुज्यमसंशयम् ।
न च तान् बाधते कश्चित्तापो लोके कथञ्चन ॥७३॥

इस पवित्र धीशगीता को जो अध्ययन और अध्यापन करते हैं, क्लेश कर्मविपाक और आशय से रहित होकर वह मेरे सब भक्त मत्सायुज्य को अवश्य प्राप्त होते हैं और उनको इस संसार में किसी प्रकार भी कोई ताप बाधा नहीं देता है। ॥७२-७३॥

कल्याणजननीमेतां श्रद्धयैव पठन्ति ये।
एनया येऽथवा यागं गाणपत्यं प्रकुर्वते ॥७४॥

हवनात्मकमाहोस्वित केवलं पाठरूपकम् ।
तेषा नश्यन्ति भक्तानामाधयो व्याधयोऽखिलाः ॥७५॥

श्रद्धा के साथ ही इस कल्याण कारिणी गीता का जो पाठ करते हैं अथवा जो इसके द्वारा केवल पाठात्मक वा हवनात्मक गणपतियाग का अनुष्ठान करते हैं उन मेरे भक्तो की सब आधि और व्याधियां नष्ट हो जाती हैं ॥७४-७५॥

संयता ये तपोनिष्ठा भक्तिभावेन कुर्वते ।
पाठस्य श्रवणं सम्यगेतस्याः सार्थक द्विजाः ! ॥७६॥

गाणपत्यस्य यागस्यानुष्ठानं वैतया सदा ।
काचिद्वाधा न तेषां स्याद्विपत्तिः माणिनां तथा ॥७७॥

ताद्दशी विघ्नशिर्वा नश्येदया नैव सत्वरम् ।
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यते ब्राह्मणोत्तमाः ॥७८॥

हे द्विजो ! जो भक्तिभाव से संयत और तप परायण होकर भलीभांति इसका सार्थक पाठ श्रवण अथवा इसके द्वारा गणपतियाग का अनुष्ठान सदा करते हैं उन जीवों के ऐसे कोई बाधा, विपत्ति और विधनसमूह नहीं हैं जो शीघ्र ही दूर न हो सके, हे विप्रवरो ! इसमें कुछ सन्देह नहीं है। ॥७६-७८॥

आर्ता जिज्ञासवो भक्तास्तथाऽर्थार्थिन एव वै ।
त्रिविधा एव मे भक्ता एतद्गीताश्रयेण हि ॥७९॥

स्वमनोरथसाफल्यं लभेरन्नात्र संशयः।
तथैवास्याश्च गीतायाः श्रवणान्मननात्तथा ॥८०॥

मेरे आर्त जिज्ञासु और अर्थार्थी तीनों प्रकार के भक्त ही इस गीता के आश्रय से ही निःसन्देह सफल मनोरथ होंगे और उसी प्रकार मेरे ज्ञानीभक्त भी इस गीता के श्रवण मनन और निदिध्यासन द्वारा अपरोक्षानुभूति से मेरे दर्शन करने में अवश्य समर्थ होंगे॥७९-८०॥

निदिध्यासनतो नूनं ज्ञानिभक्ताश्च मामकाः।
अपरोक्षानुभूत्या में दर्शन कर्त्तुमीशते ॥८१ ॥

चतुर्वर्णाश्रमस्थानां स्वधर्मासक्तचेतसाम्।
जीवानां किनु वक्तव्यं श्रद्धालूनां मयि ध्रुवम् ॥८२॥

सर्वेषामेव जीवानां चतुर्वर्गफलमदा!
वर्त्तते धीशगीतेयं सत्यं सत्यं न संशयः ॥८३॥

चारों वर्ण और चारों आश्रमो के स्वधर्मानुरत जीवों की तो बात ही क्या है मुझमें अटल श्रद्धा रखनेवाले जीवमात्र को ही यह धीशगीता चतुर्वर्ग फलप्रद है। यह सत्य है सत्य है, इसमें सन्देह नहीं है ॥८१-८३॥

इति श्रीधीशगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे धीशर्षिसंवादे विराटस्वरूपनिरूपणं नाम सप्तमोऽध्यायः।

इस प्रकार श्रीधीशगीतोपनिषद् के ब्रह्मविद्यासम्बन्धि धीशर्षि सम्वादात्मक योगशास्त्र का विराटस्वरूप निरूण नामक सप्तम अध्याय समाप्त हुआ।

॥समाप्तेयं श्रीधीशगीता ॥

॥ श्रीधीशगीता समाप्त हुई ॥

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥